मीमांसा दर्शन

महर्षि जैमिनि

मीमांसा-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेदों, १०८ उपनिषदों, षट् दर्शनों के भाष्यकार,
गायत्री महाविद्या के विशेषज्ञ और लगभग
१५० हिन्दी ग्रन्थों के रचयिता

प्रकाशक

संस्कृति संस्थान, बरेली

(उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक
संस्कृति संस्थान, बरेली
(उत्तर-प्रदेश)

*

सम्पादक
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रथम संस्करण
१९६४

*

मुद्रक
जगदीशप्रसाद भरतिया
बम्बई भूषण प्रेस,
मथुरा

*

मूल्य
४) रुपया

भूमिका

भारतीय दर्शनों में 'मीमांसा' की स्थिति अन्य दर्शनों की अपेक्षा निराली है। यद्यपि यह षट-दर्शनों में बहुत बड़ा है (इसकी सूत्र संख्या २६४४ है जो शेष पाँचों दर्शनों की सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर है) और कितने ही लोगों की दृष्टि में सब से अधिक महत्वपूर्ण भी है। इसमें वैदिक कर्मकाण्ड की समस्याओं और शङ्काओं का समाधान किया गया है, जिनकी उपादेयता कितनी ही सम्प्रदायों के अनुयायियों की दृष्टि में सर्वाधिक है। पर दूसरा पक्ष इसी विशेषता के कारण इसे 'दर्शन' मानने में भी आनाकानी करता है । उनका कथन है कि इसमें सृष्टि, आत्मा, परमात्मा, जीव, कर्म, अकर्म जैसे दार्शनिक विषयों पर नाम मात्र को विचार किया गया है और सारी शक्ति यज्ञों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी वैदिक-वाक्यों का अर्थ समझाने में लगा दी गई है। पर जैसा कि इस दर्शन के प्रथम सूत्र में कहा गया है "अथातो धर्म जिज्ञासा" अर्थात् 'अब धर्म पर विचार किया जाता है।' यह ग्रन्थ लोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति कराने वाले साधन 'धर्म' के सम्बन्ध में विचार करता है। इस दृष्टि से इसे भी 'दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है। धर्म-क्रियाओं की सार्थकता तथा प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुये इसमें ईश्वर, आत्मा, कर्म, मोक्ष आदि की भी कुछ चर्चा जहाँ-तहाँ आ गई है। उसी के आधार पर विद्वान भाष्यकारों ने 'मीमांसा' के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है।

चूँकि मीमांसा-दर्शन में यज्ञ-सम्बन्धी विषयों की चर्चा और निर्णय किया गया है और यज्ञ भारतीय-समाज की बहुत प्राचीन और मुख्य संस्था है, इस आधार पर कुछ धार्मिक लेखक इसे सब से अधिक

प्राचीन मानते हैं। सम्भव है प्राचीन समय में इस दर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्त किसी रूप में संग्रहीत रहे हों। पर वर्तमान समय में इसका जो रूप प्राप्त है वह बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति के पश्चात् का ही है जैसा कि श्री शङ्कराचार्य ने अपने 'सर्व दर्शन संग्रह' में लिखा है—

बौद्धादिनास्तिकध्वस्त वेदमार्गं पुराकिल।
भट्टाचार्यः कुमारांशः स्थापयामास भूतले॥

अर्थात्—"जिस वेदमार्ग का बौद्ध आदि नास्तिक मतालम्बियों ने पुराने समय में विध्वंस कर दिया था, उसी को कुमारिल भट्टाचार्य ने फिर पृथ्वी पर स्थापित किया।"

कुमारिल भट्ट श्री शङ्कराचार्य के समकालीन माने जाते हैं और उनका समय सातवीं शताब्दी के लगभग स्वीकार किया गया है। ये 'मीमांसा शास्त्र' के बहुत प्रसिद्ध प्रचारक हुये हैं और इन्हीं के उद्योग से बौद्ध-धर्म का पराभव होकर पुनः वैदिक-धर्म की जड़ जमने का उपक्रम हुआ। यद्यपि मीमांसा-दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि का समय इनसे लगभग एक हजार वर्ष या इससे भी कुछ पूर्व अधिक माना जाता है, पर बौद्ध-धर्म की प्रबलता के कारण बहुत समय तक उक्त-दर्शन अज्ञात अथवा लुप्त दशा में ही पड़ा रहा। उस पर सर्व प्रथम भाष्य शवरस्वामी ने लिखा, जिनका समय ईसा की दूसरी सदी बतलाया जाता है। कहते हैं कि इनका वास्तविक नाम आदित्यदेव था पर विरोधियों के भय से इनको जङ्गलों में छुप कर और भील का रूप बना कर रहना पड़ा था। इस भाष्य को भी कुमारिल ने ही अपनी वृहत् टीका के साथ सर्व साधारण में विशेष रूप से प्रकाशित और प्रचारित किया था। कुमारिल ने बड़े कौशल से बौद्धमत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और फिर उसका खण्डन करके वैदिक मत की स्थापना की। इस तथ्य को इन्होंने अपने ग्रन्थ में भी इन शब्दों में प्रकट किया है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिक पथे कर्तुमयं यत्नः कृतोमया ।।

अर्थात्—"मीमांसा-शास्त्र लोकायती (भौतिकवादी अथवा नास्तिक) लोगों के अधिकार में आ गया था, मैंने उसका उद्धार करके आस्तिक पथ पर लाने का प्रयत्न किया है।"

कुमारिल की योग्यता और परिश्रम से इस शास्त्र को नव-जीवन प्राप्त हो गया। उन्होंने अन्य कितने ही प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपना शिष्य बना कर इसके विस्तार और प्रचार की भी उत्तम व्यवस्था की। इन शिष्यों में मंडन मिश्र तथा प्रभाकर मिश्र के नाम अभी तक विद्वत समाज में बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं। मंडन मिश्र तो कुछ समय बाद श्रीशङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में परास्त होकर सुरेश्वराचार्य के नाम से उनके शिष्य बन गये, और प्रभाकर मिश्र ने शबरभाष्य पर दो नई टीकायें लिख कर अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त 'गुरु-मत' के नाम से प्रचारित किया, जो आज कल मीमांसा का सब से अधिक प्रामाणिक और सुदृढ़ विवेचन स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार कुमारिल और उनके शिष्यों के प्रयत्न से मीमांसा का उद्धार और प्रचार धूमधाम के साथ हो गया, पर उसी समय जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी का प्रादुर्भाव हो जाने और उनके अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के सम्मुख आ जाने से मीमांसा-पक्ष की सफलता अल्पकालीन और सीमित ही सिद्ध हो सकी। उसके पश्चात् वेदान्त ने ही विशेष रूप से जन-जीवन को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया और मीमांसा कुछ पण्डितों और विद्वानों के पठन-पाठन तथा वादविवाद का विषय ही बन कर रह गया। इसका प्रचार विशेष रूप से मिथिला और आन्ध्रप्रान्त में ही सीमित रहा। कहा जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में मिथिला के राजा भैरवसिंह ने एक पुष्करिणी का निर्माण कराके यज्ञ किया था, उसमें मीमांसा-शास्त्र के जो विद्वान निमंत्रित किये गये थे उनकी संख्या १४ सौ थी।

मीमांसा का सिद्धान्त—

मीमांसा-दर्शन में 'धर्म-जिज्ञासा' वाले प्रथम सूत्र के पश्चात् ही जैमिनि ने धर्म का लक्षण बतलाया है—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थात्—"प्रेरणा या उपदेश वाला अर्थ ही धर्म है।" इसका तात्पर्य यह है कि धर्म प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा या पसन्द पर निर्भर चीज नहीं है वरन् वह एक नैतिक नियम है जिसका पालन करना समाज में रहने वाले मनुष्य के लिये आवश्यक है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो मनुष्य को प्राकृतिक प्रेरणा से विवश होकर करने पड़ते हैं, जैसे खाना, पीना, सोना, शौच आदि। कुछ कार्य राज्य अथवा शासन की आज्ञा से मानने पड़ते हैं, जैसे किसी की वस्तु पर अपना अधिकार न जमाना, पराई स्त्री के सम्पर्क न करना, किसी को शारीरिक चोट न पहुँचाना आदि। तीसरे प्रकार के कार्य 'नैतिक नियमों' के अन्तर्गत आते हैं जिनके लिये मनुष्य पर प्राकृतिक और राज नियमों के समान दबाव तो नहीं रहता, पर अपने और समाज के कल्याण की दृष्टि से जिन्हें उसे करने की प्रेरणा दी जाती है, जैसे दान, परोपकार, उदारता, संयम, क्षमा आदि। इस लिये जैमिनि ने धर्म का जो लक्षण बतलाया है वह बहुत युक्तियुक्त है कि जो कार्य महापुरुषों या लोकोपकारी उपदेशकों की प्रेरणा या आदेश को मान कर करने चाहिये, वे ही धर्म हैं। इसके लिये हम से यही कहा जाता है कि उनका करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।

धर्म की परीक्षा—

यद्यपि मीमांसा भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण मानता है, पर उसका कथन है कि धर्म का निर्णय प्रत्यक्ष और अनुभव द्वारा न होकर 'शब्द' द्वारा ही होना सम्भव है। सूत्र १-४ में कहा गया है कि—"प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो पुरुष को इन्द्रियों और बाह्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होता है।" यह ज्ञान नित्य नहीं अनित्य है और किसी समय भी परिवर्तित हो सकता है। इन्द्रियों की शक्ति के क्षीण होने

पर कुछ का कुछ समझ लेना और किसी भी इन्द्रिय को भ्रम हो जाना सम्भव है। इसलिये धर्म सम्बन्धी निर्णय में प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उसके आधार पर उत्पन्न होने वाला अनुमान प्रमाण काम नहीं दे सकता। वे दोनों तथ्यों पर निर्भर रहते हैं जब कि धर्म, नीति का विषय है जो न प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और न जिसका अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमित होता है और उसके द्वारा मनुष्य प्रायः अयथार्थ तत्व को यथार्थ समझने की भूल कर बैठता है। इसलिये धर्म का निर्णय ऐसे आधार पर होना चाहिये जिसमें भ्रम की गुञ्जायश न हो और जिसे बार-बार बदलने की नौबत न आवे। मीमांसा के मतानुसार ऐसे निर्णय और आदेश वेद के ही हो सकते हैं। इस सिद्धान्त को पाँचवे सूत्र में इस प्रकार उपस्थित किया गया है—

"वेद का प्रत्येक शब्द अपने अर्थ से स्वाभाविक सम्बन्ध रखता है। यह ईश्वरोपदिष्ट धर्म का यथार्थ साधन है। यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा प्राप्त नहीं होता, इससे पारस्परिक विरोध से मुक्त होता है। आचार्य बादरायण के मतानुसार वेदादेश अपनी अर्थ-सत्यता के कारण स्वतः प्रमाण है।"

पर अन्य सब लोग वेद को इस प्रकार ईश्वरीय आदेश मानने को तुरन्त प्रस्तुत नहीं हो जाते। वे इस विषय में अनेक प्रकार की शङ्कायें करते हैं जिनका उल्लेख मीमांसाकार ने स्वयं ही किया है। शङ्का करने वालों का कहना है कि वेद में केवल कर्मकाण्ड सम्बन्धी धार्मिक आदेशों का ही उल्लेख नहीं है, उसमें ऐसे भी बहुत से मंत्र पाये जाते हैं जिनमें केवल परमात्मा की उपासना का वर्णन है अथवा अन्य सिद्धान्त बतलाये गये हैं। क्या ऐसे कर्मकाण्ड से भिन्न अंशों को अप्रामाणिक माना जाय? दूसरी बात यह है कि जो वेद के शब्दों और उनके अर्थ को नित्य बतलाया गया है, तो वेद में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जो अर्थहीन हैं और उनका पाठ लोग बिना अर्थ जाने समझे ही करते

रहते हैं। क्या इस प्रकार पाठ करने से भी उनका फल मिलता रहेगा? तीसरी बात यह है कि वेदों के मंत्रों के रचयिता मनुष्य ही थे और उसमें अनेक मनुष्यों तथा राजाओं का वर्णन भी पाया जाता है, तब इन को ईश्वरीय आदेश कैसे मान लिया जाय? चौथी बात यह कि वेदों में ऐसी घटनाओं का वर्णन भी पाया जाता है जो किसी विशेष काल में हुई हैं। ऐसी दशा में उनको अनादि और नित्य कैसे माना जा सकता है?

पहली आपत्ति के विषय में मीमांसाकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि वेदों में उपासना के मंत्र और सिद्धान्त भी मिलते हैं, पर वे उसी कर्मकाण्ड रूपी धर्म के समर्थन और पुष्टि के लिये हैं। मानव-जीवन एक पक्षीय नहीं है वरन् उसमें ज्ञान, भावना और क्रिया तीनों का मिश्रण रहता है। जो मंत्र हम परमात्मा की उपासना के लिये पढ़ते हैं उनसे भी प्रेरणा मिलती है कि हम उन धर्मकृत्यों को करें। सिद्धान्त सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे सिद्ध होता है कि उक्त धर्मकृत्य सिद्धान्ततः ठीक हैं। इस प्रकार जो वेद-वाक्य कर्मकाण्ड से असम्बन्धित जान पड़ते हैं वे अप्रत्यक्ष रूप से उनकी प्रेरणा और पुष्टि का कार्य करते हैं, और इस दृष्टि से समस्त वेद प्रामाणिक है।

दूसरी शंका का उत्तर यह है कि वेद में कोई निरर्थक वाक्य नहीं है, हाँ कोई योग्यता के अभाव से उन्हें न समझ सके यह और बात है। यह कहना कि वेद के मंत्रों का विना समझे बूझे पाठ करने से भी फल मिल जायगा ठीक नहीं है। वेद वाक्य जादू-टोना की तरह नहीं हैं जो किसी भी तरह उच्चारण कर देने पर अभिलाषित परिणाम उपस्थित कर सकें। वेद वाक्य सभी सार्थक है और उन्हें अर्थ को समझते हुये ही पढ़ना चाहिये। इसी प्रकार वेदों का प्रयोग करने से मानव-जीवन सफल हो सकता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है—

"वेद मंत्रों का अर्थ सहित स्वाध्याय करना चाहिये क्योंकि वेद मनुष्य के लिये पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का साधन

वतलाता है और उनका विवेचन करता है। प्रत्येक मंत्र में ऋषियों का नाम पाये जाने से भी यही प्रकट होता है कि वेदों का पठन-पाठन अर्थ सहित हो होना चाहिये। वे ऋषि उन मंत्रों का विधिवत् प्रचार करने वाले थे। ज्ञान को देने वाला शास्त्र भी एक मात्र वेद ही है। सृष्टि के आदि में मनुष्य को उसी के द्वारा अपने कर्तव्यों का बोध हुआ। (अ० १ पा० २ सू० ३१, ३२, ३९)।

तीसरी और चौथी आपत्ति का उत्तर देते हुये कहा गया है कि वेदों में जहाँ कहीं कुछ व्यक्तियों के नाम अथवा घटनाओं का वर्णन पाया जाता है वह वास्तव में वैसा नहीं है। वेद में जो शब्द आये हैं वे सब यौगिक और सामान्य अर्थ वाले हैं। यह दूसरी वात है कि वे कुछ व्यक्तियों के नामों से मिलते-जुलते हों और इससे लोगों को भ्रम हो जाय कि वे किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं। भुज्य, तुग्र, सुदास आदि ऐसे ही नाम हैं। इनका अर्थ यौगिक रूप से करना चाहिये।

इस प्रकार मीमांसा केवल वेद को ही धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण मानता है। कर्मकाण्ड का विस्तार के साथ वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों, कल्प सूत्रों और स्मृतियों में भी पाया आता है। वैदिक विधानों को समझने और उनकी विस्तृत व्याख्या करने के लिये इन ग्रन्थों का उपयोग किया जा सकता है, पर उनके वे ही अंश माननीय हैं जो वेदानुकूल हों। जो वातें वैदिक सिद्धान्तों से विपरीत पाई जायें उनको अमान्य कर देना चाहिये। ऐसे प्रमाणों को वेदों की तरह स्वतः-प्रमाण नहीं कहा जाता, वरन् वेदों पर आश्रित होने से वे परतः-प्रमाण कहे जाते हैं।

तत्व-विचार—

मीमांसा-दर्शन भौतिक जगत को नित्य मानता है। हमारी इन्द्रियाँ इस जगत के पदार्थों को जिस रुप में ग्रहण अथवा उपलब्ध करती हैं, उसी रूप में जगत सत्य है। मीमांसा-दर्शन, न्याय और वैशेषिक दर्शनों की तरह परमाणु की सत्ता को भी मानता है, पर वह अनुमान

का विषय नहीं वरन् वह उसे प्रत्यक्ष ही मानता है। कुमारिल ने संसार की रचना पाँच तत्वों से मानी है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव। दूसरे आचार्य प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या इन आठ पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। तीसरे आचार्य मुरारी मिश्र ब्रह्म, धर्मि विशेष, धर्म विशेष आधार विशेष और प्रदेश विशेष इन पाँच को मानते हैं। इनमें से मुख्य, गुण, कर्म तथा सामान्य का रूप तो अन्य दर्शनों से मिलता-जुलता ही है। परतन्त्रता से आशय समवाय पदार्थ से है जो वैशेषिक में बतलाया गया है। प्रभाकर ने शक्ति को एक स्वतंत्र तत्व इसलिये माना है कि उसके बिना कोई कार्य सम्पन्न होना संभव नहीं होता।

मुरारी मिश्र का मत मीमांसा के अन्य सब भाष्यकारों ही से भिन्न नहीं है, वरन् अन्य समस्त दार्शनिकों से भी बहुत विलक्षण है। ये मूल रूप से एक मात्र ब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार करते हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से चार पदार्थ और मानते हैं-धर्मि (घट) धर्म (घटत्व) आधार (घट का अनियत आश्रय) तथा प्रदेश विशेष (घट का अनियत स्थान) इस प्रकार मुरारी ब्रह्म के अन्तर्गत द्रव्य, गुण, काल व देश की कल्पना करते हैं।

'अपूर्व' का सिद्धान्त—

मीमांसा-दर्शन का 'अपूर्व' सिद्धान्त एक ऐसा विषय है जिसका नाम भी किसी अन्य दर्शन में नहीं पाया जाता। इसकी व्याख्या करते हुये एक लेखक ने कहा है—"अपूर्व का शाब्दिक अर्थ है "पूर्व" अर्थात् कर्मों से नवीन उत्पन्न होने वाला फल—पाप तथा पुण्प रूप फल। मीमांसक कर्मवादी हैं। वे वेद द्वारा विहित कर्म को, सर्वाधिक महत्व देते हैं, यह तो उनके 'कर्म-मीमांसा' नामकरण से ही स्पष्ट है। परन्तु यज्ञ के अनुष्ठान में एक विप्रपत्ति या परस्पर विरोधी तथ्य दिखाई पड़ता है। वेद कहता है "स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति

यज्ञ करे। इसका आशय यह है कि यज्ञानुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इस लिये यज्ञ करना चाहिये। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि यज्ञ तो यजमान आज कर रहा है और उसे फल मिलेगा किसी भविष्य काल में। इसमें यह असंगति उत्पन्न होती है कि क्रिया तो हम आज कर रहे हैं और उसका फल मिलेगा वर्षों बाद जब वह कर्म भूतकाल की वस्तु बन चुकी होगी। यह स्पष्ट विरोध है। इसी विरोध का परिहार करने के निमित्त मीमांसा ने 'अपूर्व' की कल्पना की है। इसका आशय यह कि यज्ञ से उत्पन्न होता है 'अपूर्व' (पुण्य) और अपूर्व से उत्पन्न होता है स्वर्ग (फल)। इस प्रकार क्रिया और फल के बीच अपूर्व माध्यम का काम करता है। "जैसा ऊपर कहा गया है अन्य दर्शन-मार्गों के अनुयायी इस सिद्धान्त को इस आधार पर स्वीकार नहीं करते कि 'कर्म' तो जड़ हैं, वे किस प्रकार किसी आगामी समय में बिना किसी की प्रेरणा के फल दे सकते हैं ? उनके मतानुसार फल देने का काम ईश्वरीय शक्ति करती है।

प्रामाण्यवाद—

'प्रामाण्यवाद' भी मीमांसा शास्त्र का एक ऐसा ही सिद्धान्त है जिसको मानने की आवश्यकता अन्य दार्शनिकों को नहीं होती। वे लोग प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के आधार पर किसी पदार्थ का निर्णय करते हैं। पर मीमांसक सिवाय 'शब्द प्रमाण' या 'आगम-प्रमाण' के और किसी प्रमाण को वास्तविक नहीं समझते। वे केवल वेद वाक्यों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिये जब वे प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण की भी चर्चा करते हैं तो उसकी परीक्षा वेदों के प्रमाण के आधार पर करते हैं और उसके ठीक मालूम पड़ने पर उसे भी स्वतः प्रमाण की श्रेणी में ही मान लेते हैं।

मीमांसकों का मत है कि हम इन्द्रियों द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं वह यथार्थ है और उसे सत्य मान कर स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिये। उनका कथन है कि ज्ञान यदि यथार्थ न हो तो उसे ज्ञान कहना ही व्यर्थ है। एक ही वस्तुओं को 'ज्ञान' तथा 'मिथ्या'

दोनों तरह से कहना यह परस्पर विरोधी बात है। ज्ञान स्वयंप्रकाशित होने से ही स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है।

कर्म-सिद्धान्त —

मीमांसा का मुख्य आधार 'कर्म सिद्धान्त' है और उसीका विवेचन तथा विश्लेषण इस शास्त्र में पाया जाता है। कर्म से उनका अभिप्राय है वैदिक-यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का अनुष्ठान। इस प्रवृत्ति को देख कर एक निरपेक्ष विद्वान ने समस्त दर्शनों का सार बतलाते हुये 'कर्मेति मीमांसकाः" कहा है। इसका आशय यह है कि मीमांसा की दृष्टि में सबसे बड़ा तत्व जो कि ईश्वर की समता कर सकता है, कर्म ही है। इस कर्म सिद्धान्त की आलोचना करते हुये एक अन्य विद्वान ने कहा है—

"कर्म-मीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट-साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण साधन करे। यज्ञ-यागादि में किसी देवता विशेष (जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है। वेदों में इन देवों के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है पर मीमांसा के मत में 'देवता' सम्प्रदान-कारक सूचक पद-मात्र है। इससे बढ़कर उसकी कुछ स्थिति नहीं। देवता मंत्रात्मक होते हैं और देवताओं की पृथक सत्ता उन मंत्रों को छोड़ कर अलग नहीं होती, जिनके द्वारा उनके लिये होम का विधान होता है। तब प्रश्न होता है कि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किस लिये किया जाय ? इस सम्बन्ध में सामान्य मत तो यह है कि किसी कामना की पूर्ति के लिये। परन्तु विशेष मत यह है कि बिना किसी कामना के ही वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। ऋषियों ने अपनी ज्ञान-दृष्टि से जिस वैदिक मंत्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का हमें उपदेश दिया है, उनका उद्देश्य हमारा आत्म-कल्याण ही है। इसके लिये उनका अनुष्ठान किसी विशेष प्रयोजन के सिद्धि की भावना रखे बिना, निष्काम भाव से ही करना चाहिये।

"वैदिक-कर्मों का फल स्वर्ग प्राप्ति माना गया है । निरतिशय सुख का दूसरा नाम ही 'स्वर्ग' है । 'स्वर्गकामोयजेत' वाक्य में यज्ञ कार्य के सम्पादन का उद्देश्य स्पष्ट रूप से स्वर्ग की कामना वतला दिया गया है । परन्तु अन्य सव दर्शनों में मानव-जीवन का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' ही वतलाया गया है । फलतः मीमांसा में भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया । सकाम कर्मों के अनुष्ठान से तो पाप-पुण्य होते हैं, जिससे जीवात्मा सदैव वन्धनों में ही पड़ा रहता है । पर निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दुःखों से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।"

अन्य मीमांसक विद्वानों ने कर्म का विभाजन तीन श्रेणियों में किया है—सहज-कर्म, जैव-कर्म, ऐश-कर्म । प्रकृति की आरम्भिक अवस्था में जो कर्म प्रकट होता है ब्रह्माण्ड और पंचभूतों की उत्पत्ति, उद्भिज के रूप में जीव सृष्टि का आरम्भ होना सहज कर्म' माने जाते हैं । मीमांसा इनको प्रकृति के कर्म मानता है । इसके पश्चात् जब उद्भिज से चलने-फिरने वाले प्राणी वन कर अन्त में मनुष्य का आविर्भाव हो जाता है तव जैव-कर्म का आरम्भ होता है । क्योंकि मनुष्य को वुद्धि, विवेक मिल जाने के कारण वह पाप-पुण्य का निर्णय कर सकता है और आप भी इच्छानुसार किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर सकता है । इसी जैव-कर्म के फलस्वरूप मनुष्य प्रेतयोनि, स्वर्ग, नरक, मनुष्य लोक आदि में भ्रमण करता हुआ तरह-तरह की योनियों का अनुभव करता रहता है । इसी अवस्था में वह वेद, पुराण, धर्म ग्रन्थ आदि की सहायता से आत्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है । ऐश-कर्म का सम्वन्ध मनुष्य लोक से उच्च स्थिति वाले देवलोक से है, पर मनुष्य लोक से भी उसका परोक्ष सम्बन्ध रहता है । इसी कर्म के प्रभाव से मनुष्य देव पद्वी को प्राप्त करता है और निरन्तर परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता रहता है । इस प्रकार कर्म की महिमा अपार है और चाहे

उसे मीमांसकों की तरह सर्वोपरि माना जाय या न माना जाय, पर इसमें सन्देह नहीं कि संसार में प्रत्यक्ष कर्ता-धर्ता और फलदाता कर्म ही है। इस तत्व को समझ कर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी 'रामायण' में कह दिया है कि—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

संसार में विभिन्न जातियों, देशों और व्यक्तियों की जैसी उन्नत या अवनत दशा देखी जाती है, उसका मूल आधार कर्म ही है, किसी भी जाति का ऊँचा चढ़ना या नीचा गिरना, शक्तिशाली और स्वाधीन बनना अथवा पराधीनता और दासता की पतित अवस्था को प्राप्त हो जाना, सब बातें कर्म के ही अधीन हैं।

मीमांसा और यज्ञ—

यज्ञ भारतीय जीवन का एक अति प्राचीन और सर्वव्यापी अङ्ग है। यह तो सभी जानते हैं और मानते हैं कि संसार का सब से पुराना ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है और भारतीय धर्म का तो वही मूल आधार है। ऋग्वेद से विदित होता है कि यज्ञ भारतवासियों का सर्वोच्च धर्म था। वैदिक धर्म के समय उत्सवों, त्यौहारों और धार्मिक क्रियाओं की रचना यज्ञ को दृष्टिगोचर रख कर ही की गई थी। एक हिन्दू के जीवन में जन्म से लेकर मरण तक जितने संस्कार होते हैं उन सब में यज्ञ का किसी न किसी रूप में समावेश किया गया है। भगवद् गीता के अनुसार मनुष्य का जीवन ही यज्ञमय है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

"प्रजापति ने सृष्टि के आदि में ही प्राणियों के साथ यज्ञों की भी उत्पत्ति की और कहा कि तुम इन यज्ञों के द्वारा फलो-फूलो और अपनी समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति करो।"

ऋग्वेद की पहली पंक्ति में ही यज्ञ का उल्लेख किया गया है और उसे मनुष्यों के लोक-परलोक की सफलता का सर्वोपरि साधन बतलाया गया है—

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधाततम् ।

"हम उन अग्निदेव की स्तुति करते हैं जो पुरोहित, ऋत्विज, यज्ञ के देवता तथा देवताओं के आह्वाता हैं। वे रत्नों की खान हैं और हमें भी श्रेष्ठ रत्न प्रदान करें।"

इस मन्त्र का तात्पर्य यही है कि यज्ञ मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म कृत्य है और उसीसे उसका जीवन सार्थक हो सकता है। जीवन का उत्थान देव शक्तियों की कृपा से ही हो सकता है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का मुख्य साधन यज्ञ ही है। सांसारिक परिस्थिति में रह कर जीवन निर्वाह करने वाले हिन्दू का देवाराधन मुख्य कर्तव्य है और उसका माध्यम यज्ञ है। गीता में भी यही कहा है कि यज्ञ के द्वारा देवता तुम से सन्तुष्ट रहेंगे और तुम्हारी उन्नति और कल्याण में सहयोग देंगे। यदि ऐसा न किया जायगा तो देव शक्तियाँ क्षीण हो जायेंगी और उनकी सहायता न मिलने पर तुम भी निर्बल और निस्तेज हो जाओगे।

इतना ही नहीं 'भगवद्गीता' के विविध वचनों का सामञ्जस्य करने और उनमें निहित आशय पर विचार करने से यह भी प्रकट होता है कि यद्यपि अग्निहोत्र मूलक यज्ञ वेदानुकूल थे, पर जैसे-जैसे ज्ञान-मार्ग का, ब्रह्म विद्या का प्रचार होता गया और उच्चकोटि के विद्वान् उपनिषदों की शिक्षा को कल्याणकारी समझकर स्वीकार करते गये, वैसे-वैसे ही कर्मकाण्डमूलक यज्ञों की स्थिति गौण होती चली गई। तब 'यज्ञ' का अर्थ केवल 'दर्शपूर्णमास' 'ज्योतिष्टोम' 'अश्वमेध' आदि दो-चार तरह के धूमधाम वाले क्रियाकाण्ड युक्त सामूहिक यज्ञ ही न रह गये, वरन् मानव-जीवन के सभी महत्वपूर्ण कर्तव्यों को 'यज्ञ' के नाम से ही ग्रहण

किया जाने लगा। गीता के 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" वाले श्लोक का यही तात्पर्य है कि प्रजा की प्रगति और कल्याण के सभी कार्य यज्ञरूप हैं। चाहे वे ऋत्विजों द्वारा अग्निहोत्र के रूप में किये जायें और चाहे नित्य प्रति के जीवन-निर्वाह के कर्तव्य-पालन के रूप में। इसी से स्मृतियों में नित्य करने के लिये 'पंच गृह यज्ञ' बतलाये गये। मनुस्मृति के मतानुसार "वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, वलि भूतयज्ञ है, और अतिथि सन्तर्पण मनुष्य-यज्ञ है। इन पाँच-यज्ञों द्वारा ऋषियों, पितरों, देवताओं, प्राणियों तथा मनुष्यों को पहले तृप्त करके तब गृहस्थ को स्वयं भोजन करना चाहिये। इन यज्ञों के कर लेने पर जो अन्न बचता है वह 'अमृत' कहा गया है। पर जो केवल अपने पेट के लिये पकाता और अकेला ही खाता है उसे सभी धर्म ग्रन्थों ने 'अघाशी' (पाप खाने वाला) कहा है।

धर्म ग्रन्थों के उपरोक्त विवेचन से यह भी प्रकट होता है कि यज्ञ-कर्म केवल ब्राह्मणों के लिये ही नहीं है, वरन् वह मनुष्य मात्र का धर्म है। उपरोक्त पाँचों कर्मों में से कोई ऐसा नहीं है जिसे करने से किसी भी वर्ण या जाति के व्यक्ति को रोका जाय। ये तो मानवता के कर्तव्य हैं और जो इनको त्याग देगा या इससे विपरीत मार्ग पर चलेगा उसे मानवता से पतित माना जायगा। इसलिये धर्म शास्त्र ने प्रत्येक मनुष्य को यज्ञ-कर्म का आदेश दिया है। इसमें यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मनुष्य सोम और पुरोडाश द्वारा बड़े-बड़े यज्ञ करे और सुवर्ण की दक्षिणा दे। नहीं, अपना जो कर्तव्य भगवान ने नियत कर दिया है उसे सच्चे हृदय से कर्तव्य समझते हुए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर करना ही वास्तविक यज्ञ है। इस सम्बन्ध में 'महाभारत' का उपदेश है।

आरम्भ यज्ञाः क्षत्राश्च, हविर्यज्ञा विशः स्मृतः।
परिचार यज्ञाः शूद्राश्च, जपयज्ञा द्विजःतया॥

"क्षत्रियों के लिये उद्योग और पराक्रम करना यज्ञ है, वैश्यों के लिये अन्न आदि सामग्री का होम करना यज्ञ है, शूद्रों के लिये उत्तम

प्रकार से सेवा करना यज्ञ है और ब्राह्मणों के लिये जप, परमात्मा का ध्यान व आत्म-तत्व के अनुकूल आचरण यज्ञ रूप है।"

(महा० शान्ति पर्व २६७।१२)

इस प्रकार सिद्ध होता है कि समाज की अस्तित्व रक्षा और प्रगति के लिये जितने आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य हैं वे यज्ञ रूप ही हैं। जहाँ इन कार्यों को सचाई और कर्तव्य की भावना से पूरा किया जायगा वहाँ उन्नति, कल्याण और सुख दिखाई पड़ेगा और जहाँ इनकी उपेक्षा की जायगी अथवा सामाजिक हित के बजाय इन्हें संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से किया जायगा (जैसा कि वर्तमान समय में विशेष रूप से दिखाई दे रहा है) तो उससे सबका अहित होगा और अन्त में समाज का उच्छेद हो जाना भी सम्भव है।

इस दृष्टि से 'यज्ञ' का विरोध कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति नहीं कर सकता। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि यज्ञ किसी एक ही क्रिया या कर्म-पद्धति का नाम नहीं है। अपनी-अपनी योग्यता, परिस्थिति और साधनों के अनुसार सभी उसे कर सकते हैं। मीमांसा के अनुसार अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोम करना यज्ञ है, मनुस्मृति के अनुसार स्वाध्याय, तर्पण, अतिथि सत्कार भी यज्ञ है और महाभारत के अनुसार अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन भी 'यज्ञ' है। तुम इनमें से किसी भी प्रकार का यज्ञ करो पर उसे करते हुये गीता की इस शिक्षा का ध्यान रखो कि जो कुछ किया जाय फलाशा का त्याग कर निष्काम भावना से किया जाय। ऐसा करने से ही वह साधारण कर्म भी 'यज्ञ' बन जाता है और श्रेष्ठ फल प्रदान करता है। यही वह 'यज्ञीय भावना' है जिस पर गीता में बारम्बार जोर दिया गया है, और जिसके बिना बड़े से बड़ा लाखों रुपया खर्च करके किया हुआ विशाल महायज्ञ बन्धनकारक ही सिद्ध होता है। इसी से वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

प्रध्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् ।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥

"इस लोक में जो यज्ञ-याग आदि पुण्य कर्म किये जाते हैं उनका फल स्वर्ग-उपभोग करके समाप्त हो जाता है और तब यज्ञ करने वाले को पुनः स्वर्ग लोक से इसी कर्म-लोक में आना पड़ता है।"

मीमांसा द्वारा विवेचना किये गये छोटे-बड़े आहुति वाले यज्ञ भी इसी दृष्टि से पुण्य कर्म माने गये कि "यज्ञ में हवन किये गये द्रव्य अग्नि द्वारा सूर्य को पहुंचते हैं, सूर्य से पर्जन्य से, पुर्जन्य से अन्न और अन्न से प्रजा का पालन होता है।" (गीता ३-१४) यदि किसी को एसे व्ययसाध्य यज्ञों को करने की सामर्थ्य न हो तो उसके लिये नित्य किये जाने वाले 'पंच यज्ञ' भी वही प्रतिफल दे सकते हैं, क्योंकि उनसे समाज में सद् प्रवृत्तियों और श्रेष्ठ भावनाओं का प्रसार होता है और मनुष्य परस्पर सहयोग पूर्वक रहने की शिक्षा प्राप्त करते हैं। विशेष परिस्थिति आ जाने के कारण यदि कोई पंच-यज्ञ भी न कर सके तो अपने वर्ण-धर्म का दृढ़ता पूर्वक पालन भी उसे जीवन्मुक्त स्थिति तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है। मुख्य बात भावना की है। जो भी कर्म 'यज्ञीय भावना' से स्वार्थ रहित होकर, परोपकारार्थ किया जायगा वह मनुष्य को उत्थान-मार्ग में अग्रसर करेगा और सदैव कल्याणकारी सिद्ध होगा।

पूर्व मीमांसा दर्शन ने इसी तत्वज्ञान को अपना मूल आधार बनाया है और यज्ञ-यागादि को मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य बतलाकर उसकी महत्ता, क्रिया और विधि की विवेचना पर सबसे अधिक ध्यान दिया है। यह सत्य है कि उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिये ज्ञान और योग के मार्ग का भी प्रतिपादन किया गया है, पर इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि उन मार्गों को स्वीकार करने वाले और उनका पालन कर सकने वाले सौ में से दो-चार भी कठिनता से मिल सकते हैं। शेष लोग जिनके स्वभाव में विरक्तता की भावना नहीं है और जो भोगों

को ही संसार में जन्म लेने का मुख्य उद्देश्य समझते हैं वे देवाराधन के कर्मकाण्ड द्वारा ही अपना लौकिक पारलौकिक कल्याण कर सकते हैं। इसी लिये महर्षि जैमिनि ने अपने 'दर्शन' का आरम्भ 'ब्रह्म-जिज्ञासा' के बजाय 'धर्म-जिज्ञासा' से किया है। 'ब्रह्म' के मार्ग पर चलना योगियों और ज्ञानियों काम है और कर्मकाण्ड मूलक धर्म जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ सिद्ध किये जाते हैं लौकिक पुरुषों के लिये उपयोगी हैं। इससे भी उत्तम और सर्वोपयोगी विधान : इन दोनों मार्गों में सामञ्जस्य उत्पन्न करके कर्म और ज्ञान का यथायोग्य व्यवहार करना अर्थात् नियमानुसार कर्म में प्रवृत्त रहना पर फलाशा में आसक्त न होना, यही सब धर्म-शास्त्रों का सार है।

मीमांसा और ईश्वरवाद—

मीमांसा का ईश्वर के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है यह एक बड़ा महत्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न है। कितने ही विद्वान् तो उसे खुल्लम-खुल्ला अनीश्वरवादी बतलाते हैं। उनका कथन है कि मीमांसा ने ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कहीं एक शब्द भी नहीं लिखा है और न उसकी पूजा, उपासना की कोई आवश्यकता प्रकट की है। जब हम मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्तों पर विचार करते हैं तो इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी पूर्ति के लिये कहीं भी ईश्वर-तत्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मीमांसा ने जगत को इसी रूप में नित्य माना है, वेदों को भी वह एक ही रूप में सदा से स्थिर कहता है और जीवों को फल देने की सामर्थ भी कर्म में ही बतलाता है। इस प्रकार उसे सृष्टि निर्माण कर्मफल और वेदों की रचना आदि किसी भी कार्य के लिये ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसी आधार पर लोग उसे अनीश्वरवादी कहने लगते हैं।

पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। यद्यपि कई भाष्यकारों ने कहीं-कहीं ईश्वर की चर्चा में खण्डनात्मक विचार प्रकट कर दिये हैं पर

मीमांसा के मूल सूत्रों में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती । उदाहरण के लिये ६-२-१६ में पूर्व पक्ष की ओर से शङ्का उपस्थित की गई है कि—

"लोके कर्मणि वेदवत्ततोऽधिपुरुष ज्ञानम् ।"

अर्थात्—"लोक में भी वेद की तरह कर्म किये जाते हैं और उनसे भी परमात्मा का ज्ञान हो सकता है फिर वेद के मानने की क्या आवश्यकता है ?" इसकी पुष्टि के लिये आगे कहा है—

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ।

अर्थात्—"कोई अपराध करने पर दुनियादार आदमी भी अपराध का दण्ड विधान कर देते हैं फिर इसके लिये वेद को मानने की क्या आवश्यकता है ?

इन तर्कों का उत्तर देते हुये मीमांसाकार ने ईश्वर-तत्व की प्राप्ति ही इसका हेतु बतलाया है—

"अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्नव प्रकल्पकं, तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत्, देवताश्रये च ।

अर्थात्—"शास्त्र (वेद) को न माना जाय तो देव परमात्मा की प्राप्ति, उसका ज्ञान असम्भव हो जायगा । लौकिक साधनों से इन्द्रिय-अगोचर पदार्थों की जानकारी संभव नहीं है । देव (परमात्मा) के मानने से ही शास्त्र सार्थक हो सकता है ।"

इसके सिवाय भी स्थान-स्थान पर परमात्मा की उपासना और प्राप्ति का संकेत सूत्रों में किया गया है जैसे—

सर्वशक्तौ प्रवृत्ति स्यात्तथा भूतोपदेशात् ।

"सर्व शक्तिमान परमात्मा की प्राप्ति के लिये सब कर्मों में प्रवृत्ति होनी चाहिये, ऐसा ही उपदेश शास्त्रों में दिया गया है ।"

अपि वाप्येकदेशे स्यात् प्रधानेह्यर्थनिर्वृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थं-

त्वात् ।

"कर्म प्रभु के एक देश से सम्बन्धित है और उसकी प्राप्ति के लिये इनका अनुष्ठान किया जाना आवश्यक है । अन्य पूजा, उपासना आदि बातें गौण हैं ।"

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात्प्रधानेनाऽपिसम्बन्धात् ।

"जो कर्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये नहीं किया जाता, उससे उदासीन रह कर किया जाता है वह वेद के मत से सदोष और निष्फल होता है । वही कर्म उत्तम है जिसका सम्बन्ध परमात्मा से हो ।"

इन सब सूत्रों के होते हुये मीमांसा के निरीश्वरवादी होने की शङ्का उठाना व्यर्थ है । वास्तविक तथ्य यह हैं कि मीमांसा मुख्यतया कर्मकाण्ड मूलक दर्शन है, यज्ञ-महायज्ञ उसके प्रमुख विचारणीय विषय हैं, इसलिये उसमें उसी का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । फिर भी उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया हैं ये यज्ञ-यागादि काम्य-भाव से नहीं पर निष्काम भाव से करने चाहिये तभी उनका वास्तविक लाभ प्राप्त हो सकता है । यों साधारणतः "स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे" अथवा 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, ऐसे विचार लोगों में प्रचलित हैं, पर इसके साथ में यह भी कहा गया है कि कामनायुक्त कर्म पाप-पुण्य का बन्धनकारक होता है और उसके करते रहने पर मोक्ष का मिलना संभव नहीं होता । इसलिये मोक्ष अथवा ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने की अभिलाषा वालों को निष्काम भाव से ही कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करना चाहिये ।

यह संभव है कि मीमांसा-दर्शन के बहुसंख्यक भाष्यकारों ने अपने विचारानुसार उक्त सूत्रों का अर्थ भिन्न प्रकार से किया हो और उनमें ईश्वर की चर्चा न पाई जाती हो, फिर भी जहाँ तक मीमांसा-साहित्य का अध्ययन किया गया है मीमांसा में ईश्वर के खण्डन की बात कहीं नहीं मिलती । ऐसी दशा में यदि मीमांसाकार ने अपना विवेचन

कर्मकाण्ड तक ही सीमित रखा हो और विषयान्तर के ख्याल से अन्य विषय की विशेष रूप से चर्चा न की हो तो यह कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे उसे ईश्वर विरोधी घोषित किया जा सके।

मीमांसा के ईश्वरवादी होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि सर्वोपरि ईश्वरवादी वेदान्त-दर्शन ने मीमांसाकार महर्षि जैमिनि का प्रमाण ईश्वर सिद्धि के सम्बन्ध में दिया है। जीव की मुक्त-अवस्था का वर्णन करते हुये महर्षि बादरायण कहते हैं—

ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः। (वेद ४-४-६)

अर्थात्—"जैमिनि आचार्य के मतानुसार मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म के आनन्द आदि गुणों को धारण करता है।" इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मीमांसाकार महर्षि जैमिनि ईश्वर को मानते थे और उसके सच्चिदानन्द स्वरूप में विश्वास रखते थे। एक अन्य सूत्र में कहा गया है—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।

अर्थात्—"आचार्य जैमिनि साक्षात् ही वैश्वानर पद के ईश्वरार्थक होने का अविरोध कथन करते हैं।" इसका आशय यह है कि मीमांसा-दर्शन अग्नि को परमात्मा का स्वरूप ही मानता है।

वेदान्त-दर्शन से यह भी सिद्ध होता है कि मीमांसाकार जैमिनि जीवात्मा और परमात्मा के सम्मिलिन के विषय में भी एक-सी ही सम्मति रखते हैं। इस सम्बन्ध में वेदान्त-दर्शन के चौथे अध्याय के तीसरे पाद में तीन सूत्र दिये गये हैं—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥
दर्शनाच्च ॥१३॥
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥१४॥

इनका तात्पर्य यह है कि—"जीवात्मा जब ब्रह्मलोक को प्राप्त

होता है तो इसमें कुछ लोग शङ्का करते हैं कि वह जीवात्मा परब्रह्म (निर्गुण) को प्राप्त होता है अथवा कार्यब्रह्म (सगुण) को । इस विषय में जैमिनि का मत है कि मुख्य अथवा परमब्रह्म को ही प्राप्त होता है । किसी वचन में गौण अर्थ की कल्पना उस समय की जाती है जब कि मुख्य अर्थ की कोई उपयोगिता न हो । इसलिये जब परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है और सब लोक उसी के रचे हैं तो 'ब्रह्म' शब्द से कार्यब्रह्म की कल्पना करना निरर्थक है ।"

दूसरे सूत्र में बतलाया गया है कि अध्यात्म विषयक अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भी जीवात्मा की ऐसी ही गति बतलाई गई है । छांदोग्य उपनिषद् में कहा है कि—"मुक्तात्मा पुरुष सुषुम्णा नाड़ी द्वारा ऊपर उठ कर अमृतत्व को प्राप्त होता है ।" कठोपनिषद् में कहा है कि—"वह संसार-मार्ग से उस पार विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है ।" इससे यही विदित होता है कि मुक्तात्मा कार्यब्रह्म के समीप नहीं वरन् परब्रह्म के लोक में ही पहुँचते हैं ।

तीसरे सूत्र में इसी मत को दृढ़ करते हुये कहा है कि—"जब मुक्तात्मा परब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही साधना करते हैं और वही उनका लक्ष्य होता है तो कोई कारण नहीं कि उनकी गति कार्यब्रह्म तक मानी जाय । उपनिषदों में जीवात्मा के प्रजापति के सभाभवन में पहुँचने का वर्णन मिलता है, पर उसका यह आशय नहीं कि वह वहीं रहने लगता है । उस वर्णन से यही प्रकट होता है कि जीवात्मा किस क्रम से ऊपर की ओर उठता जाता है और अन्त में अपने लक्ष्य-स्थान को प्राप्त होता है ।"

दूसरा प्रमाण यह भी है कि जब वे यज्ञ और महायज्ञों का इतना अधिक समर्थन करते हैं और यज्ञों का मुख्य उद्देश्य देवताओं के नाम पर आहुतियाँ देना ही है, तो वे ईश्वर के विरोधी अथवा न मानने वाले कैसे हो सकते हैं ? वेदों में तो जगह-जगह यह कहा गया है कि

जितने देवता हैं वे सब एक परब्रह्म की शक्तियों के ही विभिन्न रूप हैं। उपनिषदों में कहा गया है इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा, (वायु) वरुण, अश्विनीकुमार आदि सब एक ही परमात्मा के अलग-अलग नाम हैं। ऐसी दशा में मीमांसा देवताओं की पूजा, उपासना का समर्थन करता हुआ ईश्वर को कैसे अमान्य कर सकता है? यज्ञ आस्तिकता का चिह्न है न कि नास्तिकता का। देवताओं और परमात्मा के मानने में कोई खास अन्तर नहीं और 'देव' शब्द तो परमात्मा के लिये सदैव उपयोग किया ही जाता है।

मीमांसा शास्त्र के अन्य आचार्यों के बनाये ग्रन्थों से भी यही प्रकट होता है कि उनमें ईश्वर का प्रसङ्ग ही नहीं उठाया गया है और समस्त शक्ति कर्मकाण्ड की सर्वोपरि महत्ता तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं के निर्णय पर ही लगाई गई है। कुमारिल ने अपने ग्रन्थ में 'सर्वज्ञता' का खण्डन किया है, जिससे कुछ लोग उसे ईश्वर का खण्डन समझ लेते हैं। पर कुमारिल का उद्देश्य बौद्ध और जैन धर्म में वर्णित 'सर्वज्ञता' का खण्डन करने से है। कुमारिल के शिष्य प्रभाकर ने भी अनुमान द्वारा सिद्ध ईश्वर का खण्डन किया है। उनका मत है कि वेद में ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वही मान्य है। अन्य प्रमाणों, तर्कों और अनुमान आदि द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। बाद के आचार्यों ने जीव की मोक्ष होने का वर्णन करते हुए यह माना है कि जब तक कर्मों को निष्काम भाव से करके उनका फल ईश्वरार्पण न किया जायगा तब तक सांसारिक बन्धनों से छूट कर मुक्ति प्राप्त कर सकना संभव नहीं। इस प्रकार मीमांसा में कहीं भी ईश्वर के खण्डन की कोई बात देखने में नहीं आती वरन् कर्म-फल के प्रसङ्ग में उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार ही किया गया है। इस विषय की व्याख्या में उसका अन्य दर्शनों से वैसा ही मतभेद है जैसा सब में एक दूसरे से पाया जाता है। जैसे वेदान्त-दर्शन मोक्ष अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा में पूर्ण रूप से विलीन होना मानता

है, पर जैमिनि का मत है कि "मुक्त-आत्मा ब्रह्म में लुप्त नहीं हो जाती, वरन् ब्रह्म के सदृश्य हो जाती है, उसका अपना अस्तित्व बना रहता है। उसमें ज्ञान के साथ अनुभूति का भाव भी रहता है।"

प्राचीन-ग्रन्थों में काल-प्रभाव से बहुत से मतभेदों और पाठान्तरों का हो जाना कोई असंभव या आश्चर्य की बात नहीं है। एक शब्द अनेक अर्थों का वाची होता है और एक वाक्य का अन्वय विद्वान् लोग तरह-तरह से कर सकते हैं। इसी के फलस्वरूप यह अन्तर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ कुछ सौ वर्षों में इतना अधिक हो जाता है कि लोगों को एक ही ग्रन्थ अथवा एक ही लेखक की बातें एक दूसरे से प्रतिकूल जान पड़ने लगती हैं। तब इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वास्तविकता को खोज कर उन विरोधों को दूर किया जाय। स्वयम् मीमांसा-दर्शन की रचना इसी प्रकार हुई है। जब वैदिक कर्मकाण्ड अनेक शाखाओं में बंट गया और लोग एक दूसरे से विपरीत विधान का प्रयोग करने लगे तब महर्षि जैमिनि ने अनेक प्रकार की क्रियाओं और भिन्नताओं का विश्लेषण करके वेद-वाक्यों के वास्तविक आशय को प्रकट करने के लिये मीमांसा सूत्रों की रचना की।

मीमांसा और पशु-बलिदान—

मीमांसा-दर्शन पर जो सब से बड़ा आक्षेप किया जाता है वह यह है कि उसमें यज्ञ में पशुओं को मार कर उनके अंग-प्रत्यंगों को हवन करने का विधान पाया जाता है। इस बात के कहने वाले साधारण अल्प बुद्धि वाले लोग नहीं है, वरन् बहुसंख्यक संस्कृतज्ञ पंडित और शास्त्रों का अध्ययन करने वाले भी यही बात कहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप आजकल के पण्डित समुदाय में मीमांसा-दर्शन के प्रति एक प्रकार की विरक्तता का भाव उत्पन्न हो गया है और वे उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं।

यह बात तो सभी इतिहासज्ञ कहते हैं कि मध्यकाल में यज्ञों में पशु हिंसा की प्रचार हो गया था और एक समय यह हिंसा इतनी बढ़ गई थी कि मूक पशुओं के करुण चीत्कार से अदृश्य शक्ति का आसन भी हिल उठा था। इसी के परिणाम स्वरूप नौवें अवतार भगवान बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ जिन्होंने बड़े प्रयत्न और परिश्रम से इस कुप्रथा का अन्त कराया। यह घटना एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे कोई निष्पक्ष व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। पर प्रश्न यह है कि क्या यह पशु हिंसा यज्ञों में सदा से होती आई थी और शास्त्रों में उसका स्पष्टतः विधान है ? इस सम्बन्ध में विदेशियों का मत तो चाहे जो हो, पर जिन भारतीय विद्वानों ने इस सम्बन्ध में शास्त्रीय वचनों पर विचार किया है उनका यही मत है कि यह हिंसा बाद में धूर्त और पाखण्डियों ने सम्मिलित कर दी थी। महाभारत (शांति पर्व) में कहा गया है—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषुकथ्यते ॥

अर्थात् "मद्य, मछली और पशुओं का मांस तथा द्विजातियों का बलिदान आदि धूर्तों द्वारा यज्ञ में प्रवर्तित हुआ है। वेदों में मांस का विधान नहीं है।

वस्तु स्थिति यह है कि कर्मकाण्ड मूलक धर्म से में प्राचीन काल से ही दैवी और आसुरी-दोनों पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। त्रेता युग में रावण को वेदों का प्रकाण्ड पंडित माना गया था और उसने वेदों पर भाष्य भी किया था। पर असुर होने के कारण उसने वेदों के यज्ञीय मंत्रों का अर्थ मांसपरक ही किया। रामायण से विदित होता है कि रावण, मेघनाद आदि जितने यज्ञ करते थे उसमें भैंसों को मारकर उनके मांस और रक्त आदि का हवन किया जाता था। इसलिये यदि आसुरी-पक्ष यज्ञों में पशु बलिदान का समर्थन करता रहा और उसीके अनुसार यज्ञ रचता भी रहा तो इसमें असम्भव क्या है ? तत्पश्चात् मध्यकाल में भी जिन प्रदेशों

अथवा जातियों में मांसाहार का प्रचार बढ़ा उन्होंने प्राचीन आसुरी भाष्यों का आश्रय लेकर पशु बलिदान को उचित ठहरा दिया और जनता को बहका कर उसका अधिकाधिक प्रचार बढ़ा दिया। बुद्ध के आविर्भाव के बाद भी इस देश में जब वाम-मार्ग की प्रबलता हुई तो उन्होंने अपने स्वार्थ की दृष्टि से फिर वेदों और यज्ञों में पशु हिंसा के होने की बात उठाई और प्राचीन ग्रन्थों में जगह-जगह उसका समर्थन करने वाले नये वाक्य गढ़ कर कर भी मिला दिये। इस प्रकार सर्वसाधारण में एक प्रकार का भ्रम फैल गया और मतभेद उत्पन्न हो गया। उनमें से कुछ पशु बलिदान को शास्त्र-सम्मत बतलाने लगे और कुछ उसे शास्त्र-विरुद्ध कहते रहे।

यज्ञ और हवनों में माँस आदि के उपयोग का भ्रम उत्पन्न होने का दूसरा कारण यह भी है कि कितने नाम ऐसे हैं जिनका अर्थ पशु-पक्षियों का भी निकलता है और उसी नाम की औषधियों का भी। हवन सामग्री में उन औषधियों का विधान देख कर मांस के पक्षपातियों ने उसका अर्थ पशुओं से लगा लिया। इसी प्रकार 'अज' का अर्थ पुराने चावलों का है। कुछ लोगों ने उसका आशय बकरा बतला कर उसको यज्ञ में काटना शुरू कर दिया। इसी प्रकार 'छाग' शब्द का अर्थ भी बदल दिया गया है।

यह बात सामान्य बुद्धि से भी प्रतीत होती है कि जब यज्ञ का एक मुख्य उद्देश्य वातावरण को शुद्ध तथा पवित्र करना होता है और उसके द्वारा वर्षा होने तथा प्रजा का पोषण होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, तब उसमें मांस आदि जैसे दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाले पदार्थों की आहुतियाँ कैसे दी जा सकती है ? कहाँ तो शास्त्र में अगर, तगर, चन्दन कपूर, इलायची, जावित्री, शक्कर, घी, दूध, मधु आदि की आहुतियों का विधान किया है और कहाँ ये अन्य टीकाकार बकरा, भैंसा, घोड़ा, आदि काटकर उनके अङ्गों का हवन करने का अर्थ बतलाने लगे। हमें यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि इस प्रकार मारे हुये और जीवित

पशुओं को अग्नि कुन्ड में डालने का कार्य राक्षस प्रकृति के व्यक्ति ही कर सकते हैं, जो दिन रात माँसाहार करते हैं और जिनकी दृष्टि में वह एक बढ़िया और पौष्टिक पदार्थ है। अन्य लोग तो ऐसे वीभत्सकाण्ड के वर्णन से ही घृणा से भर जायेंगे और नाक, भौं सिकोड़ने लगेंगे। ऐसी अवस्था में हिंसा वाले यज्ञों को स्वाभाविक अथवा जनकल्याणकारी कहने का साहस कोई बुद्धिमान नहीं कर सकता।

मीमांसा-दर्शन में कई जगह यज्ञ में मांस के उपयोग का निषेध स्पष्ट रूप से किया गया है। जैसे १२-२-२ में कहा है "मांस पाक प्रति-षेधश्च तद्वत्" और १२-२-२६ में "मांस पाको विहित प्रतिषेधः स्याद्-वाहुति संयोगात्।" इनका आशय यही है कि वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा अथवा किसी भी पशु के मांस आदि का प्रयोग वर्जित है। अब यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार वेद आदि सभी ग्रन्थों में खींचातानी करके टीकाकार लोग अपने-अपने सम्प्रदाय अथवा मत के अनुकूल अर्थ निकाल लेते हैं, उसी प्रकार मांस के पक्षपाती टीकाकारों और भाष्यकारों ने मीमांसा के सूत्रों का अर्थ भी अपने मतानुकूल सिद्ध कर दिया। पर इस प्रकार के विषयों में एक वाक्य अथवा शब्द के कई अर्थों में से अपनी पसन्द का अर्थ चुन लेने से उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इस प्रकार की चाल शास्त्रार्थ अथवा विवादों में काम भले ही दे जाय, पर किसी के हृदय पर उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। उसके लिये तो सम्पूर्ण ग्रन्थ के समुच्चय रूप से आशय पर ध्यान देना ही आवश्यक है। इस दृष्टि से जब हम 'मीमांसा-दर्शन' पर विचार करते हैं तो उसका मूल उद्देश्य वेदों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन और फिर वेदों के सिद्धान्तानुसार यज्ञ सम्बन्धी विविध क्रियाओं के यथार्थ रूप का निर्णय करना है। इसके लिये उन्होंने जो १२ अध्याय लिखे हैं उनमें से कोई भी मांस के प्रयोग से सम्बन्ध नहीं रखता। हाँ, उसमें पशुओं का जिक्र अवश्य मिलता है पर विद्वानों के मतानुसार उसका आशय पशुओं को दान देने से है, काटने, मारने से नहीं। जो वेद मनुष्यों को उच्चकोटि का आत्मज्ञान और श्रेष्ठ

कर्तव्यों की शिक्षा देने के लिये प्रकट किये गये हैं, उनसे इस प्रकार के आसुरी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भी अनुपयुक्त जान पड़ता है।

मीमांसा और मोक्ष-साधन—

प्रत्येक दर्शन-शास्त्र का एक अङ्ग मोक्ष साधन के विषय में विचार करना भी होता है। जो दार्शनिक इस संसार को सर्वथा दुःख रूप नहीं मानते वे भी सुख के साथ दुःख की अधिकता तो बतलाते ही हैं। ऐसी अवस्था में उस दुःख से छुटकारा पाना प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति का उद्देश्य होना ही चाहिये। पर इस सम्बन्ध में मीमांसा तथा अन्य दर्शनों में एक बड़ा भेद यह है कि जहाँ अधिकांश दर्शन कर्म को बन्धन-कारक मानते हैं और उसके लिये या तो वेदान्त की तरह कर्म-त्याग (संन्यास) की सम्मति देते हैं या गीता की तरह अनासक्त होकर कर्म करने (कर्म योग) या विधान बतलाते हैं, वहाँ मीमांसा कर्मकाण्ड द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करने की बात कहता है।

मोक्ष के सम्बन्ध में मीमांसा में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं जिनमें से एक प्रभाकर का है और दूसरा कुमारिल का। प्रभाकर कहते हैं कि "आत्मा में ज्ञान, सुख, दुःख अनेक विशेष गुण विद्यमान रहते हैं। जब इन विशेष गुणों का नाश सम्पन्न हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है और यही मोक्ष है। मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता।" इसका तात्पर्य यह है कि सुख-दुःख तथा अन्य प्रकार के अनुभव करना आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं हैं. वरन् वह शरीर के द्वारा ही इनकी अनुभूति करने में समर्थ होता है। जब शरीर और आत्मा का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तो वह किसी प्रकार के दुःख-सुख का अनुभव नहीं कर सकता और यही उसका वास्तविक रूप है।

पर कुमारिल भट्ट इस मत का विरोध यह कहकर करते हैं कि प्राणीमात्र का उद्देश्य सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न माना जाता है और

उसीके लिये वह पुरुषार्थ भी करता है। यदि मोक्ष में किसी प्रकार का आनन्द नहीं हो, तो उसके लिये उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या है ? इसलिये कुमारिल ने मोक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है—

दुःखात्यन्त समच्छेदे सति प्रागात्म वर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥

अर्थात् "दुःख का अत्यन्त नाश हो जाने पर आत्मा में पहले से विद्यमान होने वाले सुख का जब मन के द्वारा उपभोग अथवा अनुभव होने लगता है, वही मुक्तावस्था है।" इस प्रकार कुमारिल मुक्ति में आनन्द की अनुभूति मानते हैं, जब कि प्रभाकर न्याय और वैशेषिक दर्शनों की तरह उसे आनन्दानुभव से शून्य बतलाते हैं।

इन दो के अतिरिक्त कुछ मीमांसकों ने मुक्ति प्राप्त करने का एक अन्य सरल मार्ग ढूँढ़ लिया है। उसका वर्णन करते हुये 'गीता-रहस्य' में कहा गया है कि "मीमांसकों की दृष्टि से समस्त कर्मों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ऐसे चार भेद होते हैं। इनमें से सन्ध्या आदि नित्य-कर्मों के न करने से पाप लगता है और नैमित्तिक कर्म तभी करने पड़ते हैं जब उनके लिये कोई विशेष निमित्त उपस्थित हो। इसलिये मीमांसकों का कहना है कि इन दोनों कर्मों को करना ही चाहिये। बाकी रहे काम्य और निषिद्ध कर्म। इनमें से निषिद्ध कर्म करने से पाप लगता है, इसलिये उनको नहीं करना चाहिये, और काम्य कर्मों के करने से उनके फलों को भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है, इसलिये उन्हें भी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों के तारतम्य का विचार करके यदि मनुष्य कुछ कर्मों को छोड़ दे और कुछ कर्मों को शास्त्रोक्त रीति से करता रहे, तो वह आप ही आप मुक्त हो जाता है। क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का इस जन्म में उपभोग कर लेने पर उनका अन्त हो जाता है, और इस जन्म में सब नित्य नैमित्तक कर्मों को करते रहने से तथा निषिद्ध कर्मों से बचते रहने से नर्क नहीं जाना पड़ता, इसी प्रकार काम्य कर्मों को छोड़ देने से स्वर्ग जाने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

जब इस मार्ग से मृत्यु-लोक, नरक और स्वर्ग ये तीनों गति छूट गईं तो आत्मा के लिये मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति ही नहीं रह जाती।"

मीमांसकों की उक्त व्याख्या तर्क की दृष्टि से तो ठीक जान पड़ती है, पर वेदान्त सिद्धान्त वाले इसे भ्रान्त बतला कर खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि—"पहले तो सब निषिद्ध कर्मों का त्याग करना ही असम्भव है, और यदि कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है तो केवल नैमित्तिक प्रायश्चित से उसके सब दोषों का नाश नहीं होता। यदि किसी प्रकार इस बात को संभव भी मान लें तो दूसरी आपत्ति यह है कि सब प्रारब्ध कर्मों का संग्रह एक जन्म में समाप्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि संचित कर्मों के फल प्रायः परस्पर विरोधी होते हैं। उदाहरणार्थ एक कर्म का फल स्वर्ग-सुख और दूसरे का नरक-यातना हो तो दोनों को एक ही समय में और एक ही स्थान में कैसे भोगा जा सकता है? इसलिये यदि मीमांसा के बतलाये अनुसार चारों प्रकार के कर्मों को ऊपर बतलाये ढङ्ग से करते भी रहें तो पहले के बचे हुये भले और बुरे प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिए जन्म लेना ही पड़ता है।"

इस दृष्टि से कोरे कर्मवाद द्वारा मोक्ष की समस्या हल नहीं हो सकती, वरन् उसके लिये कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय भी अनिवार्य है। अतः जब तक कर्म के साथ आत्मज्ञान प्राप्त न किया जायगा तथा शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों पर आचरण न किया जायगा तब तक मोक्ष दूर ही बनी रहेगी।

× × ×

"मीमांसा-दर्शन" की टीका तैयार हो जाने पर समस्त आस्तिक भारतीय दर्शनों के हिन्दी भाषान्तर का कार्य पूर्ण हो गया। निस्सन्देह इन सब में 'मीमांसा' का कार्य सर्वाधिक अड़चनपूर्ण था, क्योंकि कई प्रकार की असुविधाओं के कारण वर्तमान समय में इसके ग्रन्थ और भाष्य बहुत कम मिलते हैं और जो हैं भी वे अपूर्ण हैं। इसका एक कारण, जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, यह भी है कि वर्तमान समय में पुरा-

कालीन यज्ञों की परिपाटी का प्राय: लोप हो गया है और इसलिये पाठकों की इस शास्त्र की ओर रुचि नहीं रही है। दूसरी बात यह है कि यह दर्शन बहुत बड़ा है, जितने सूत्र अन्य ५ दर्शनों में कुल मिला कर पाये जाते हैं उतने अकेले इस दर्शन में है। इसलिये जहाँ अन्य दर्शनों में सूत्रों का भावार्थ विस्तारपूर्वक लिखा है, इसके सूत्रों का अर्थ बिल्कुल संक्षिप्त रूप में देना पड़ा है। यदि ऐसा न किया जाता तो यह अन्य दर्शनों से चौगुना अधिक हो जाता।

दर्शनों के इस भाषान्तर-कार्य में हम को अपने सहयोगी श्री दाऊदयाल गुप्त, (मथुरा) से अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। उनके सहयोग के बिना इस भारी कार्य का अकेले निर्वाह कर सकना कठिन था। इसके लिये गुप्ताजी हमारे हार्दिक धन्यवाद के अधिकारी हैं। पुस्तक के संशोधन और छपा कर सुन्दर रूप में तैयार करने का उत्तरदायित्व श्री सत्यभक्त जी पर रहा है जिसका प्रतिफल इस प्रकाशन की उत्कृष्टता के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित है।

गायत्री तपोभूमि
मथुरा।

—श्रीराम शर्मा, आचार्य।

मीमांसा-दर्शनम्

प्रथमोऽध्यायः

प्रथम पाद

[महर्षि जैमिनि के 'मीमांसा-दर्शन' के इस प्रथम अध्याय का नाम "धर्म-जिज्ञासा" है। इस सम्बन्ध में रचियता का सिद्धान्त है कि धर्म का प्रमुख साधन यज्ञ-यागादि (कर्मकाण्ड) हैं और वह एकमात्र वेद के आदेश तथा विधि के अनुकूल होना चाहिए। यह उद्देश्य अन्य किसी प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर सिद्ध नहीं हो सकता। वेद के प्रमाण को सत्य सिद्ध करने के लिए और किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अनादि और स्वतः प्रमाण है। वेदों के शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक और नित्य है, उसमें कभी किसी प्रकार का अन्तर पड़ना सम्भव नहीं। इसलिये जो मनुष्य जगत में आकर अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा निःश्रेयस(मोक्ष) की अभिलाषा रखता उसे वैदिक आदेश का ही पालन करना चाहिये। इसके लिए वेद का अर्थ सहित पठन-पाठन मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ, कल्प·सूत्र, और स्मृतियां आदि भी धर्म का उपदेश देती हैं और इस कार्य में सहायक हैं, पर उनका मत वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह वेदार्थ के अनुकूल हो। वेद के प्रतिकूल होने पर ब्राह्मण, कल्प आदि ग्रन्थों को नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से इस अध्याय में वेदानुकूल अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता और प्रामाणिकता का

विवेचन किया जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि यह दर्शन 'न्याय-दर्शन" के कुछ भागों की तरह शङ्का-समाधान के रूप में लिखा गया है। पहले वैदिक-सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का उल्लेख किया गया है और फिर एक या अधिक सूत्रों में उनका निराकरण और अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। इस शैली के कारण अनेक स्थलों पर पाठकों को मीमांसा के वास्तविक सिद्धान्त का पता लगाने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अतः इस दर्शन का अध्ययन विशेष सावधानी के साथ और भली प्रकार समझकर किया जाना आवश्यक है।]

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥
तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥३॥
सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥४॥
औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं, बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥
कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥
अस्थानात् ॥७॥
करोतिशब्दात् ॥८॥
सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥९॥
प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥

अब धर्म की जिज्ञासा होती है ॥१॥ विधान में आये अर्थ को धर्म कहते हैं ॥२॥ उस वेदोक्त धर्म की प्रमाण परीक्षा है ॥३॥ इन्द्रियों के कार्य वस्तु से संयुक्त होने पर पुरुष को जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। वह विद्यमान पदार्थों के इन्द्रियों से संयोग प्राप्त करने के कारण धर्म में प्रमाण नहीं है ॥४॥ वेद के प्रत्येक पद का अर्थ से स्वाभाविक सम्बन्ध

है धर्म के यथार्थ ज्ञान-साधन के ईश्वर द्वारा उपदिष्ट होने से तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अप्राप्त अव्यभिचारी और अविरोधी होने पर भी व्यास जी के मत में वह वाक्य अनपेक्षित होने से धर्म में स्वतः प्रमाण हैं ।।५।। कोई-कोई विद्वान् शब्द को कार्य मानते हैं, क्योंकि शब्द में प्रयत्न माना जाता है ।।६।। न ठहरने वाला होने से भी ।।७।। शब्द करने के विषय व्यवहार से भी उसकी अनित्यता है ।।८।। इस तथा और देशस्थ पुरुष में एक साथ पाये जाने से भी शब्द का अनित्य होना सिद्ध है ।।९।। तथा प्रकृति और विकृति के कारण शब्द अनित्य है ।।१०।।

बुद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ।।११।।
समं तु तत्र दर्शनम् ।।१२।।
सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ।।१३।।
प्रयोगस्य परम् ।।१४।।
आदित्यवद्यौगपद्यम् ।।१५।।
वर्णान्तरमविकारः ।।१६।।
नादवृद्धि परा ।।१७।।
नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ।।१८।।
सर्वत्र यौगपद्यात् ।।१९।।
संख्याभावात् ।।३०।।

तथा अधिक शब्द बोलने वालों से शब्द की वृद्धि होने से भी शब्द अनित्य है ।।११।। किन्तु नित्य या अनित्य मानने वालों में शब्द के देखा जाना, समान है ।।१२।। शब्द के होते हुए भी, जो दूसरे क्षण में दिखाई न देना है वह केवल शब्द के अव्यक्त होने से ही है ।।१३।। किन्तु प्रयोग आदि के उच्चारण भाव से हैं ।।१४।। एक शब्द का सब कालों में समान रूप से होना सूर्य के समान समझना चाहिए ।।१५।। 'इ' के स्थान में 'य' विकार वश नहीं होता, क्योंकि यकार से वहाँ अन्य शब्द की प्रतीति होती है ।।१६।। अधिक बोलने के कारण नाद की वृद्धि है,

शब्द की नहीं ॥१७॥ शब्द का उच्चारण श्रोता के ज्ञान के लिये होने से, शब्द नित्य है, अनित्य नहीं ॥१८॥ सब शब्दों में एक समय में ही प्रतिभिज्ञा होने से ॥१९॥ संख्या के भाव से भी शब्द नित्य है ॥२०॥

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥
प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥२२॥
लिंगदर्शनाच्च ॥२३॥
उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥
तद्भूतानां क्रियार्थेन, समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥
लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥
वेदाश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥२७॥
अनित्य दर्शनाच्च ॥२८॥
उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥
आख्याः प्रवचनात् ॥३०॥
परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥
कृते वा विनियोगस्स्यात्कर्मणस्सम्बन्धात् ॥३२॥

शब्द का नाश होने परन्तु उसका कारण न जानने से भी उसका नित्य होना ही सिद्ध होता है ॥२१॥ शब्द में वायु के अंश का कान से प्रत्यय न होने से और त्वचा के द्वारा शब्द का स्पर्श प्रत्यक्ष न होने से भी यही मान्यता ठीक है ॥२२॥ तथा वेदादि में शब्द के नित्यत्व रूप चिह्न मिलने से भी यही सिद्ध होता है ॥२३॥ अथवा पूर्व पक्ष का स्थापक हैं। शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने से, वाक्यार्थ कहने वाले नहीं, क्योंकि अर्थ का ज्ञान पदों से नहीं, वाक्य से होता है ॥२४॥ अपने अर्थों में वर्तमान पदों का क्रियावाची पदों सहित पाठ होने से उनका समुदाय ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है। अर्थ की उत्पत्ति में पदार्थ ज्ञान ही एक कारण है ॥२५॥ जैसे लोक में नियम से सम्बन्ध होने से वैसे वेद में भी पद-पदार्थ सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ उत्पन्न होते हैं ॥२६॥ तथा

कोई-कोई विद्वान् वेदों को अनित्य मानते हुए, बनाने वाले पुरुषों के नाम का सम्बन्ध होने से ॥२७॥ और जन्म-मरण धर्म वाले पुरुषों के नाम वेदों में होने से वह पौरुषेय है ॥२८॥ परन्तु, वेद रूप शब्द में नित्यत्व पहले ही कहा जा चुका है ॥२९॥ वेद में नाम आदि अध्ययन और अध्यापन के कारण हैं ॥३०॥ वेदों में तुग्र और भुज्यु शब्द केवल शब्द सामान्य मात्र हैं, इसके सिवाय कुछ भी नहीं हैं ॥३१॥ अथवा यज्ञ-कर्म के लिये प्रेरणा रूप हैं, क्योंकि यज्ञ रूप कर्म से सम्बन्धित हैं ॥३२॥

॥ प्रथमः पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां, तस्मादनित्य-
मुच्यते ॥१॥
शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ॥२॥
तथा फलाभावात् ॥३॥
अन्यानर्थक्यात् ॥४॥
अभागिप्रतिषेधाच्च ॥५॥
अनित्यसंयोगात् ॥६॥
विधीनां त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥७॥
तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ॥८॥
अप्राप्ता चानुपपत्तिः, प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छब्दार्थस्त्व-
प्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥९॥
गुणवादस्तु ॥१०॥

वेद कर्म का बोधक होने से, उसके विपरीत जो कर्मार्थ बोधक नहीं हैं, वह अर्थ-हीन हैं, अतः वह अनित्य कहे जाते हैं ॥१॥ शास्त्र में विरोध देखे जाने से भी ॥२॥ और फल का अभाव होने से भी प्रामाणिक

नहीं हैं ॥३॥ अर्थ-रहित होने से भी अप्रामाणिक हैं ॥४॥ अप्राप्ति का निषेध करने से भी ॥५॥ अनित्य पदार्थों का वर्णन होने से भी ॥६॥ विधि वाक्यों की स्तुति के कारण, विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से स्तुति विधान बोधक, विधि-वाक्य प्रमाण हैं ॥७॥ तथा सृष्टि काल से प्रारम्भ होना समान ही है ॥८॥ स्थूल दृष्टि से समझे जाने वाले अर्थ में वाक्यार्थ की उपलब्धि से विरोध हो तो यह अर्थ वाक्यार्थ विषय-हीन होने से अन्यार्थ का बोधक है। अतः वेद वाक्यों में पारस्परिक विरोध रूप अनुपपत्ति दोष न मिलने से भी उक्त वाक्य का अर्थ विरोध-हीन है ॥९॥ परन्तु, स्तुतिवाद कहा है, वह गुणवाद है ॥१०॥

रूपात्प्रायात् ॥११॥
दूरभूयस्त्वात् ॥१२॥
अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥१३॥
आकालिकेप्सा ॥१४॥
विद्याप्रशंसा ॥१५॥
सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥
फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेष-स्स्यात् ॥१७॥
अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥
विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१९॥
लोकवदिति चेत् ॥२०॥

प्रायः वेदों में रूपक से वर्णन हुआ है ॥११॥ स्थूल अर्थ करने से नेत्र और सूर्य की दूरी होने से कार्य कारणभाव नहीं बनता ॥१२॥ अप-राध से अजायत क्रिया के कर्त्ता सूर्या का पुत्र रूप से और नेत्र का कारण रूप से दर्शन होता है ॥१३॥ एक काल में ही प्राणिमात्र में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा पायी जाने से ॥१४॥ विद्या का यश होने से ॥१५॥ ब्रह्म कर्म का सब को समान अधिकार है ॥१६॥ फल विशेष की कर्म से सिद्धि

होने पर मृत्यु से नहीं बचता । उनके कर्मों का विशेष फल है । वह सांसारिक कर्म से उत्पन्न फल के समान परिच्छिन्न और बदलने वाला है ॥१७॥ जिन पाँचवें और छठवें सूत्र में अन्त के दोनों पूर्व पक्षों का समाधान है, उसी प्रकार यहाँ भी जानें ॥१८॥ अथवा स्पष्ट अर्थ वाले वाक्यों में सिद्ध अर्थ का ज्ञान कराने वाली विधि है, क्योंकि उनका अपूर्व अर्थ विधिवाक्य जैसा ही है । यदि उन्हें सिद्ध अर्थ का बोध कराने वाला ही मानें तो वे प्रमाणित नहीं होंगे ॥१९॥ यदि, यह सांसारिक कथन के समान है, ऐसा मानें ॥२०॥

न पूर्वत्वात् ॥२१॥

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥२२॥

विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥२३॥

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षों न कल्प्येतः विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥२४॥

विधौ च वाक्यभेदः स्यात ॥२५॥

हेतुर्वा स्पादर्थवत्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥

अर्थे स्तुतिरन्यायेति चेत् ॥२८॥

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥२९॥

यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥३०॥

सांसारिक स्तुत्य वाक्यों में प्रसिद्ध अर्थ ही कहा जाता है, कोई अपूर्व अर्थ नहीं कहा जाता ॥२१॥ परन्तु, ऐसे सिद्ध अर्थ वाले वाक्य विधि-वाक्यों के अङ्ग कहे गये हैं ॥२२॥ यदि उसे विधि-वाक्य मानें तो उनमें कहीं भी अर्थ नहीं मिलेगा, इसलिये सिद्ध अर्थ वाले वाक्यों से कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से स्तुति मिलती है । उसीके समान अन्य वाक्यों में भी स्तुति कल्पना ही उचित है ॥२३॥ प्रकरण के अनुसार स्तुति

मिलने से विधि-वाक्य की कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि स्तुति के सामने विधि-कल्पना व्यर्थ है ॥२४॥ और उन वाक्यों में विधि-कल्पना से अर्थ-भेद होने पर वाक्य-भेद हो जायगा ॥२५॥ अथवा हेतु है, क्योंकि वह वाक्य अर्थ और उपपत्ति वाला ही हो सकता है ॥२६॥ परन्तु, स्तुति या महत्वार्थ साधन विधि के अनुकूल ही होगा और ऐसे वाक्यों में यज्ञ प्रेरणा नहीं होगी ॥२७॥ यदि कहो कि अर्थ से स्तुति न्याययुक्त नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है ॥२८॥ परन्तु, ऐसे वाक्य विधि वाक्य के अर्थ ही हैं, जैसे सांसारिक वाक्यों में होता है ॥२९॥ और उक्त हेतु वाक्य में सामान्य निर्देश से पूर्वोक्त अर्थ स्थिति मानें तो विधि की अव्यवस्था होगी ॥३०॥

तदर्थशास्त्रात् ॥३१॥
वाक्यनियमात् ॥३२॥
बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥
अविद्यमानवचनात् ॥३४॥
अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥३५॥
अर्थविंप्रतिषेधात् ॥३६॥
स्वाध्यायवद्वचनात् ॥३७॥
अविज्ञेयात् ॥३८॥
अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥
अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

उस अर्थ शास्त्र से मनुष्य विवेचन करता है ॥३१॥ प्रत्येक मन्त्र में ऋषि-वाक्य का नियम पाये जाने से वेदार्थ सहित स्वाध्याय करे ॥३२॥ बुद्धि को देने वाला शास्त्र वेद ही है ॥३३॥ अविद्यमान पदार्थ का वर्णन होने से वेदाध्ययन ही सार्थक नहीं है ॥३४॥ अचेतन में अपने अर्थ-बन्धन के कारण वेद पढ़ने के योग्य नहीं है ॥३५॥ परस्पर विरुद्ध अर्थ कहने के कारण भी वेद का स्वाध्याय निरर्थक है ॥३६॥

जिन वाक्यों में वेद के पठन-पाठन का उपदेश है, उनमें अर्थ सहित पाठ का विधान नहीं मिलता ॥३७॥ वेदों के अर्थ जानने योग्य न होने से भी व्यर्थ हैं ॥३८॥ अनित्य पदार्थों से सम्बन्धित होने के कारण वेद मन्त्रों का अर्थ सहित पाठ व्यर्थ है ॥३९॥ परन्तु, लोक और वेद में वाक्यार्थ का ज्ञान समान माना गया है ॥४०॥

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥
परिसंख्या ॥४२॥
अर्थवादो वा ॥४३॥
अविरुद्धं परम् ॥४४॥
संप्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्
अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥
गुणादप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥
विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥
सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥
उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ॥५०॥
लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात् ॥५१॥
ऊहः ॥५२॥
विधिशब्दाश्च ॥५३॥

वेद अनेक गुण वाले अर्थों से पूर्ण है ॥४१॥ वेद का अर्थ सहित पाठ त्याज्य-कर्मों का त्याग और ग्राह्य-कर्मों का ग्रहण कराता है ॥४२॥ अथवा, यह अर्थवाद शुभ कर्म से सुख और बुरे कर्म से दुःख होना कहता है ॥४३॥ शुभ-अशुभ कर्मों से सुख-दुःख का होना लोक में भी देखा जाता है, इसलिए वेद में विरुद्धता नहीं है ॥४४॥ वेद में सहस्र सिर और सहस्र नेत्र मनुष्य की बुद्धि को परिष्कृत करने के अर्थ में होने से दोष नहीं है ॥४५॥ अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध में कहा है, उसमें तो अर्थवाद है ही ॥४६॥ गुणवृत्ति से अर्थों में परस्पर विरोध होना सिद्ध नहीं होता

॥४७॥ विधि में पठन-पाठन का अर्थ सहित उल्लेख न होना, उसके वचन की अप्राप्ति के कारण ही है ॥४८॥ जहां मन्त्रार्थ में अविज्ञान कहा है, उसमें भ्रम वश विद्यमान अर्थ का न समझना ही है ॥४९॥ और अनित्य संयोग वेद में है इसका समाधान पीछे कहा जा चुका है ॥५०॥ वेद मन्त्र में इश्वर के लक्षण कहे हैं और वे मन्त्र अर्थ वाले होने से पठनीय हैं ॥५१॥ तर्क से भी यही सिद्ध होता है ॥५२॥ और विधि-वाक्य भी इसी पक्ष में हैं ॥५३॥

॥ द्वितीयः पादःसमाप्त ॥

तृतीय पाद

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ॥१॥
अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥
विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥
हेतुदर्शनाच्च ॥४॥
शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥५॥
न शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥६॥
अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥७॥
तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥८॥
शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥
चोदितं तु प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥

धर्म में वेद ही प्रमाण है, वेद से भिन्न ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकते ॥१॥ महीदास आदि के ग्रन्थों को प्रामाणिक सिद्ध करने में वेदानुकूल अनुमान प्रमाण है ॥२॥ वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के पारस्परिक विरोध होने पर ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं, वेद ही प्रामाणिक है ॥३॥ और वेद उनके हेतु हैं, इसलिए भी ॥४॥ शिष्टों ने ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों को

बिना विरोध स्वीकार कर उन्हें वेदों के अनुकूल माना है ।।५।। ईश्वर रचित होने से वेद ही स्वतः प्रमाण हैं, यह कहना ठीक नहीं है ।।६।। अथवा वेद रूप कारण के बिना वे स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त प्रतीत नहीं होते । ७।। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद का विरोध न होने से, वे ग्रन्थ वेद के समान ही पदार्थ विज्ञान हैं ।।८।। अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों का निमित्त वेद हैं ।।६।। विधि से, वेद के विरुद्ध न होने से ब्राह्मण ग्रन्थ भी प्रमाण रूप हैं ।।१०।।

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ।। ११ ।।
नाऽसन्नियमात् ।। १२ ।।
अवाक्यशेषाच्च ।। १३ ।।
सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च ।। १४ ।।
अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ।। १५ ।।
अपि वा सर्वधर्मः स्याद्यन्न्यायत्वाद्विधानस्य ।। १६ ।।
दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ।। १७ ।।
लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ।। १८ ।।
आख्या हि देशसंयोगात् ।। १९ ।।
न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ।। २० ।।

यदि कहो कि प्रयोगशास्त्र (कल्प सूत्र) भी तो वेद के समान ही स्वतः प्रमाण हैं ।। ११ ।। कल्प सूत्र वेद के समान प्रामाणिक नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें अवैदिक भाव भी हैं ।। १२ ।। और उनमें कोई विधि-वाक्य या स्तुति-वाक्य भी नहीं मिलता ।। १३ ।। सभी कल्प सूत्रों में अर्थ योग्यता से अति निकटस्थ वेदार्थ और उसके विरुद्ध अर्थ मिलने से, उन्हें वेद के समान प्रमाण नहीं मान सकते ।। १४ ।। अनुमान और व्यवस्थान से स्मृति और शिष्टाचार उसी देश काल आदि से सम्बन्धित होते हुए प्रमाण हो सकते हैं, परन्तु सबके लिये नहीं हो सकते ।। १५ ।। अथवा स्मृति और शिष्टाचार के प्रचलित धर्म सभी के समान रूप

से आचरणीय है, क्योंकि शिष्टों का आचरण सर्वथा ठीक है ।। १६ ।। विज्ञान से शिष्टाचार का पालन करना चाहिये ।। १७ ।। सनातन के विनाश का कोई लक्षण न होने से वैदिक धर्म नित्य है ।। १८ ।। अवश्य ही नाम देश-सम्बन्धी है ।। १९ ।। यदि कहें कि देशान्तर में नहीं होना चाहिये तो यह कहना ठीक नहीं है ।। २० ।।

स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ।। २१ ।।
कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ।। २२ ।।
तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ।। २३ ।।
प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ।। २४ ।।
शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ।। २५ ।।
अन्यायश्चानेकशब्दत्वस्य ।। २६ ।।
तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात् ।। २७ ।।
तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ।। २८ ।।
एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ।। २९ ।।
प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् ।। ३० ।।

जैसे मथुरा निवासी माथुर कहे जाते हैं, उसी प्रकार वैदिक धर्म भारत में उदय होने से भारत धर्म है ।। २१ ।। प्रवण के समान ऋषियों के नाम के साथ देशबोधक शब्द का योग वेदोक्त कर्म का अङ्ग है ।। २२ ।। परन्तु, देश, विदेश को कर्म का अङ्ग मानना, काले, श्वेत आदि रङ्गों को यज्ञ-कर्म का अंग मान लेने के समान ही है ।। २२ ।। शुद्ध पद सिद्ध करने वाला व्याकरण वेद से उत्पन्न नहीं है, इसलिये शब्दों में शुद्ध प्रयोग की व्यवस्था नहीं है ।। २४ ।। शुद्ध शब्द का प्रयोग न करने से अपराध का भागी होना पड़ता है ।। २५ ।। और एक शब्द के समान अर्थ वाले अनेक शब्दों को स्वीकार करना न्याय नहीं है ।। २६ ।। शुद्ध, अशुद्ध शब्दों में, तत्वज्ञान व्याकरण आदि के अभ्यास से ही हो पाता है ।। २७।। गऊ शब्द के लिये गावी आदि अपभ्रंश रूप अशुद्ध

शव्दों की उत्पत्ति का कारण शुद्ध शव्द जानने की शक्ति न होना है और उसके अनुरूप होने से वोध कर लियाँ जाता है ।। २८ ।। तथा विभक्ति के वदलने पर भी शव्द अर्थ के वोधक होते हैं, वैसे ही अपभ्रंश शव्दों से अर्थ वोध होता है ।। २९ ।। शव्द के द्वारा अर्थ की प्रेरणा होने से, शुद्ध-शव्द और अपभ्रंश में समान अर्थ होता है ।। ३० ।।

अद्रव्यशब्दत्वात् ।। ३१ ।।
अन्यदर्शनाच्च ।। ३२ ।।
आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ।। ३३ ।।
न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं नः द्रव्यमिति चेत् ।। ३४ ।।
तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः ।। ३५ ।।

यदि शव्दार्थ को जाति मान लें तो उसे द्रव्याश्रित वस्तुओं का वाचक नहीं मान सकते ।। ३१ ।। और ग्रहण-क्रिया के अन्य रूप में देखे जाने से, शव्द का अर्थ जाति नहीं है ।। ३२ ।। परन्तु, क्रियार्थत्व होने से शव्द व्यक्ति नहीं, जाति है ।। ३३ ।। जाति में दोष है कि उसके आकार-हीन होने से क्रिया नहीं होगी, और अन्य द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य के ग्रहण का विधान और संख्यादि रूप व्यवहार नहीं होगा । यह मान्यता ठीक नहीं ।। ३४ ।। ब्रीह आदि पदों का प्रयोग ब्रीह आदि रूप अर्थ से सम्वन्धित है इसलिये जाति से अर्थ का विभाग नहीं हो सकता ।। ३५ ।।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं, तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात् ।। १ ।।
अपि वा नामधेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् ।। २ ।।

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्ध ।। ३ ।।
तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ।। ४ ।।
तद्व्यपदेशं च ।। ५ ।।
नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ।। ६ ।।
तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ।। ७ ।।
ऐकशब्द्ये परार्थवत् ।। ८ ।।
तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः ।। ९ ।।
बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ।। १० ।।

वेद का विधेयार्थ में प्रमाण कहा है, इसलिये सब ब्राह्मणों में कहा गया उद्भिदादि पद विधेयार्थ के लिये है ।। १ ।। अथवा सुनने पर जो पद पहिले किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त न हुआ हो वह नामधेय है, वह किसी गुण विशेष का कहने वाला नहीं ।। २ ।। जिस पद में गुणोपदेश हो उसका प्रकृति के साथ अभिसम्बन्ध होना ठीक है ।। ३ ।। और जहाँ गुण के कहने वाला अन्य शास्त्र विद्यमान है वहाँ नाम-विधि होती है ।। ४ ।। तथा जिन वाक्यों में उपमान उपमेय भाव से निरूपण की उपलब्धि हो, नाम विधि है ।। ५ ।। नाम में गुण के सुने जाने से वाजपेय शब्द से विधान है, यदि ऐसा कहें तो ? ।। ६ ।। ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि गुण विधि मान लेने से वाजपेय यज्ञ और दर्शपूर्णमास यज्ञ की क्रियायें परस्पर समान हो जायेंगी ।। ७ ।। एक वाक्य में गुण रूप अन्य अर्थ का विधान स्वीकार करने से वाक्य भेदरूप दोष उपस्थित होता है ।। ८ ।। परन्तु, आग्नेय आदि शब्द कर्म वाले गुणों का विधान करते हैं । क्योंकि, कर्म विधायक शब्दों में विभाग न होने से यह गुण किसी अन्य वाक्य से उपलब्ध नहीं ।। ९ ।। कहीं-कहीं संस्कारहीन वस्तु में बर्हि और आज्य शब्द का प्रयोग मिलने से ज्ञात होता है कि बर्हि तथा आज्य घृत के पर्यायवाची नहीं हैं ।। १० ।।

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥ ११ ॥
तथानिर्मन्थ्ये ॥ १२ ॥
वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥ १३ ॥
न वा प्रकरणात्प्रत्यक्षविधानाच्च, नहि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥ १४ ॥
मिथश्चानर्थं सम्बन्धः ॥ १५ ॥
परार्थत्वाद्गुणानाम् ॥ १६ ॥
पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥ १७ ॥
गुणस्य तु विधानार्थे, तद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि, तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥ १८ ॥
तच्छेषो नोपपद्यते ॥ १९ ॥
अविभागाद्विधार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥ २० ॥

प्रोक्षण वाले जलों में ही प्रोक्षण शब्द का प्रयोग समझें, क्योंकि अर्थ के संयोग से प्रोक्षिणी जल को ही कहते हैं ॥ ११ ॥ जैसे प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है, वैसे ही निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक ही है ॥ १२ ॥ यदि ऐसा कहें कि वैश्वदेव देवता रूप गुण का विकल्प है तो अनुचित नहीं होगा ॥ १३ ॥ वहाँ अग्नि आदि देवता का प्रकरण होने से और प्रत्यक्ष विधान से वैश्वदेव देवता हैं और द्रव्य का प्रकरण न होने से भी विकल्प सिद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥ और परस्पर में अर्थ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ॥ १५ ॥ गुणों के पदार्थत्व से कर्म की आवृत्ति नहीं होती ॥ १६ ॥ अग्नि आदि गुण पूर्व होने से विधि का विधान करने में गुण विधान का सामर्थ्य है ॥ १७ ॥ परन्तु, गुण के विधान करने वाले वचन के होते हुए अष्टकपाल आदि रूप गुणों का विधान नहीं होता। यज्ञ की अन्तर विधि में भी उपयोग न होने से निष्फल होंगे तथा अर्थ-वाद के बिना प्रकृतियाग से उनका सम्बन्ध और प्रयोजन नहीं हो सकता ॥ १८ ॥ अष्टकपाल, द्वादशकपाल का शेष है, ऐसा कहना सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १९ ॥ पूर्वोक्त संख्या में आठ

आदि संख्या का अन्तर्भाव होने से स्तुति के अर्थ द्वारा उपपन्न हो सकते है ॥ २० ॥

कारणं स्यादिति चेत् ॥ २१ ॥
आनर्थक्यादकारणं, कर्तुर्हि कारणानि, गुणार्थो हि विधीयते ॥ २२ ॥
तत्सिद्धिः ॥ २३ ॥
जाति ॥ २४ ॥
सारूप्यात् ॥ २५ ॥
प्रशंसा ॥ २६ ॥
भूमा ॥ २७ ॥
लिङ्गसमवायात् ॥ २८ ॥
सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥ २९ ॥
अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥ ३० ॥

अष्टकपाल आदि वाक्य पवित्र आदि फल के कारण, पवित्रता के बोधक हैं, यदि ऐसा कहें तो ? ॥ २१ ॥ अष्टकपाल आदि पवित्रता आदि में फल के कारण नहीं क्योंकि यज्ञकर्ता यजमान को पवित्रा आदि फल मिलते हैं। अतः अष्टकपालादि से स्तुति का विधान है, गुण का नहीं ॥ २ ॥ कुशमुष्टि आदि से यजमान के समान कार्य की सिद्धि होती है ॥ २३ ॥ अग्नि आदि संज्ञा से ब्राह्मण आदि वर्णों को कहा है, वह जाति है ॥ २४ ॥ सादृश्य के कारण यूप को आदित्य और यजमान कहा गया है ॥ २५ ॥ गऊ और घोड़े के अतिरिक्त बकरे आदि सब अपशु हैं। इसमें गऊ और अश्व की प्रशंसा हुई ॥ २६ ॥ सृष्टि लक्षण वाले मन्त्रों का भूयस्त्व होने से जो सृष्टि लक्षणों से हीन हैं, उनका भी ग्रहण हो जाता है ॥ २७ ॥ लक्षण के कारण प्राणभृत मन्त्र से, प्राणभृत और अप्राणभृत दोनों का ग्रहण हो जाता है ॥ २८ ॥ विविध अर्थों में संदेह होने पर वाक्य शेष से निर्णय होता है ॥ २९ ॥ निर्णायक चिह्नों

के अभाव में पदार्थ की योग्यता से ही कल्पना होती है, क्योंकि एक देश होने से कल्पना द्वारा भी अर्थ का निर्णय हो सकता है ॥ ३० ॥

["मीमांसा-दर्शन" के प्रवर्तक जैमिनि के मतानुसार कर्मकाण्ड ही धर्म का प्रधान अङ्ग है और वेदों में उसी का उपदेश किया गया है। उनमें केवल कर्मकाण्ड का विधान ही नहीं है वरन् तत्सम्बन्धी उपासना के मन्त्र तथा उनकी पुष्टि करने वाले सिद्धान्त भी सन्निहित हैं। जो लोग इन उपासना तथा सिद्धान्त के मन्त्रों को कर्मकाण्ड से भिन्न समझकर अप्रामाणिक मानते हैं वे गलती पर है। मानव-जीवन एक समग्र-वस्तु है और ज्ञान, भाव तथा क्रिया उसी के विभिन्न पहलू या अङ्ग हैं। इस दृष्टि से वेद का कोई भाग अप्रामाणिक अथवा कर्मकाण्ड रूपी धर्म से असम्बद्ध नहीं है। जो लोग वैदिक शब्दों का अर्थ और तात्पर्य न समझ कर उन्हें अर्थहीन बतलाते हैं वे इस विषय से अपरिचित है। कर्मकाण्ड के सब मन्त्रों का प्रयोग अर्थ समझकर करना ही उचित है। वेद ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन चतुष्टय को प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। जो व्यक्ति अर्थ समझकर वेद के आशय को भली प्रकार हृदयंगम कर लेता है उसे जीवन की सफलता का सच्चा मार्ग प्राप्त हो जाता है।

एक बहुत बड़ा आक्षेप वेदों पर यह किया जाता है कि उसके मन्त्रों के रचियता ऋषि थे। ये ऋषि मनुष्य ही थे और इसलिये उनके द्वारा रचे हुये वेदों को "अपौरुषेय" नहीं कहा जा सकता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि वेदों में स्थान-स्थान पर अनेकों व्यक्तियों के नाम और ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी देखने में आता है इससे भी वे अनादि और परमात्मा के रचे हुये सिद्ध नहीं होते। यदि इन दो आक्षेपों को मान लिया जाय तो "मीमांसा-दर्शन" का मूल-आधार ही समाप्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि का कथन है कि वेद-मन्त्रों में जिन ऋषियों के नाम दिये गये हैं वे उन मन्त्रों के 'कर्ता' नहीं

वरन् द्रष्टा है। वे उन मन्त्रों के अर्थ पर विचार और उनका प्रचार करते थे। वेदों का 'श्रुति' नाम भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। इससे विदित होता है कि ऋषियों ने इन मन्त्रों को सुनकर संसार के हितार्थ प्रकट किया था, वे उनके रचने वाले न थे। इसी प्रकार वेदों में व्यक्तियों के जो नाम मिलते हैं, वे वास्तव किन्हीं विशेष व्यक्तियों के नहीं हैं, उनका यौगिक-अर्थ ही हमको ग्रहण करना चाहिये। वेदों में ऐतिहासिक घटनायें भी नहीं हैं, लोग कई शब्दों का अर्थ व्यक्तिवाची समझकर उनको इतिहास समझ लेते हैं। वेद वास्तव में कभी किसी के द्वारा रचे गये नहीं हैं वरन् अनादि काल से इसी रूप में चले आये हैं। उनका प्रत्येक शब्द अनादि है और एक निश्चित अर्थ को ही प्रकट करता है। इसलिये धर्म का निर्णय और आचरण एक मात्र वेद के आधार पर ही करना अनिवार्य है।

अन्य दर्शनकारों से जैमिनि का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मतभेद है। उन्होंने वेदों के प्रमाण को अन्तिम नहीं माना है वरन् ज्ञान, विवेक और तर्क से ही सृष्टि, जीव तथा ईश्वर विषयक समस्याओं को सुलझाने पर जोर दिया। वर्तमान समय में स्वामी दयानन्द जैमिनि के मत के समर्थक अवश्य हुये हैं। उन्होंने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में अपौरुषेय माना है। पर वे भी जैमिनि की तरह वेदों के प्रत्येक शब्द को अनादि मानते हों इसमें शंका है।]

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्याय

प्रथम पाद

[प्रथम अध्याय में धर्म का आचरण करने के लिए वेद विहित कर्मों का महत्व बतलाया गया है। उनमें सिद्ध किया गया है कि वेद ही धर्म का निरूपण करने का एकमात्र साधन हैं और हम उन्हीं के द्वारा अपने धार्मिक कर्तव्यों और कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ये कर्म प्रधान और गौण इस भेद से दो प्रकार के होते हैं। वैदिक कर्मों में मुख्य यज्ञ, होम और दान आदि हैं। इनके भी अनेक भेद हैं। उन सब में गौण और प्रधान का भेद समझ लेना प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक का कर्तव्य है। इनमें सर्वसाधारण के लिए सब प्रकार से उचित और आवश्यक अग्निहोत्र है। जो नित्य हवन करते रहते हैं वे धन, जन, शान्ति, सन्तोष की दृष्टि से सदैव सुखी जीवन व्यतीत करते हैं।]

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैषः ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि; तस्मात्तेभ्यः पराकांक्षाभूतत्वात्स्वे प्रयोगे ॥३॥

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्यातानि; तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥४॥

चोदना, पुनरारम्भः ॥५॥

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यंते तानि प्रधानभूतानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यंते, गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृ त्तेः प्रयाजवत् ॥९॥

तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात् ॥१०॥

यज्ञ, होम, दान आदि भावनावाची हैं, यजति, जुहोति आदि क्रियावाची, उनसे यज्ञ आदि की क्रिया का ज्ञान होता है और यही अर्थ माना गया है ॥१॥ सोम, घृत आदि सब पदार्थों का प्रयोजन यज्ञ आदि की क्रिया रूप है, यदि ऐसा कहें तो (नहीं कह सकते) ॥२॥ अपने अर्थ में प्रयुक्त जिन पदों का उच्चारण करने पर स्वरूप उपलब्ध हो, उनको नाम कहते हैं। इसलिये अर्थ उपलब्ध होने के कारण, वे पराकांक्षा नहीं रखते, क्योंकि उच्चारण के समय उनके अपने अर्थ विद्यमान रहते हैं ॥३॥ परन्तु अपने अर्थ में प्रयुक्त जिन पदों के उच्चारण समय अर्थ की विद्यमानता न हो, वे अख्यात हैं। इसलिए उनसे धर्म की प्रतीति होती है, क्योंकि, उनका प्रयोजन पुरुष के प्रयत्न पर आश्रित है ॥४॥ जिससे उक्त कर्मों की प्रेरणा मिलती है, उन कर्मों से भविष्य में होने वाले फल का आरम्भ होता है ॥५॥ वे क्रियापद दो प्रकार के हैं। एक तो गौण पद के निरूपक हैं और दूसरे प्रधान कर्म के ॥६॥ जो क्रिया पद संस्कार के लिये द्रव्य की अपेक्षा नहीं करते, वे प्रधान कर्म हैं, क्योंकि वहाँ द्रव्य का गुणभूत है ॥७॥ तथा जो कर्म संस्कार आदि के लिये द्रव्य की अपेक्षा करने वाले हैं, वहाँ गौणता है। क्योंकि, वे कर्म-द्रव्य प्रधान-वाची हैं ॥८॥ परन्तु, प्रयाज के समान स्रुवा आदि का धर्म धोना आदि भी प्रधान कर्म हैं। उनसे किसी दृष्ट वस्तु का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता ॥९॥ अथवा धोने आदि से अन्य, कूटना आदि गुण कर्म के समान धर्म है, क्योंकि, दोनों का ही समान उपदेश है ॥१०॥

द्रव्योपदेश इति चेत् ।।११।।

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ।।१२।।

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो, याज्यावद्देवताभिधानत्वात् ।।१३।।

अर्थेन त्वपकृष्येत: देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ।।१४।।

वशावद्वाऽगुणार्थं स्यात् ।।१५।।

न, श्रुतिसमवायित्वात् ।।१६।।

व्यपदेशभेदाच्च ।।१७।।

गुणश्चानर्थक: स्यात् ।।१८।।

तथा याज्यापुरोरुचो: ।।१९।।

वशायामर्थसमवायात् ।।२०।।

यदि कहें कि 'स्रु च: सम्मार्ष्टि' में द्रव्य का प्रधान रूप से उपदेश है (तो ऐसा नहीं कह सकते) ।।११।। गुण रूप से स्रुवा आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं हैं, क्योंकि लोक में कहीं भी गौणकर्म में द्वितीया नहीं होती ।।१२।। याज्या ऋचा के समान स्तोत्र और शस्त्र दोनों ही संस्कार कर्म हैं। क्योंकि गुण कहने से देवता के गुणों को कहते हैं ।।१३।। परन्तु, देवतारूप अर्थ के लिए मन्त्रों के गुणभूत होने से, यदि स्तोत्र और शस्त्र को गुण कर्म मानें जिनमें देवताओं के नाम से स्तुति है तो उन मन्त्रों का अर्थ अनुकूल होने से अपकर्ष होगा ।।१४।। अथवा वशा के समान, विशिष्ट गुण वाले इन्द्र के स्मरणार्थ निर्गुण शब्द वाला मन्त्र माहेन्द्रग्रहयाग की निकटता में पढ़ा गया ।।१५।। उन सूत्रों में इन्द्रपद से सम्बन्ध है, महेन्द्र से नहीं। इसलिये, वह महेन्द्र के अभिधायक नहीं हो सकते ।।१६।। और नाम का भिन्न प्रकार से कथन होने से भी इन्द्र और महेन्द्र में भिन्नता है ।।१७।। और इन्द्र तथा महेन्द्र दोनों को एक ही मान लें तो 'महान्' विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा ।।१८।। यदि दोनों को एक ही

मानें तो 'याज्या' और 'पुरोऽनुवाक्या,' ऋचाओं में दोनों का भेद कहना व्यर्थ होगा ॥१९॥ बकरी में छाग रूप अर्थ का योग होने से पूर्व कहा हुआ दृष्टान्त ठीक नहीं ॥२०॥

यत्रेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥
न त्वाम्नातेषु ॥२२॥
दृश्यते ॥२३॥
अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥
शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥
अनर्थकं च तद्वचनम् ॥२६॥
अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥२७॥
अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥
फलनिर्वृत्तिश्च ॥२९॥
विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥३०॥

अथवा, जहाँ देवता इन्द्र हो वहाँ ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का आकर्षक हो सकता। क्योंकि, अर्थत्व हो सकता है ॥२१॥ ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों के सिवाय 'याम्याः शंसति' इत्यादि मन्त्रों में अर्थत्व कम नहीं हो सकता ॥२२॥ याम्यादि मन्त्र भी अन्यत्र अर्थ वाले मिलते हैं ॥२३॥ मुख्यार्थ से सम्बन्ध होने से स्तोत्र और शास्त्र प्रकरण में ही स्तुति रूप क्रिया का विधान किया है ॥२४॥ और स्तोत्र तथा शस्त्र शब्द में भेद होने से भी उसका प्रधान कर्म होना सिद्ध है ॥२५॥ और स्तोत्र तथा शस्त्र दोनों का एक फल स्वीकार करने से दोनों की विधि का वर्णन व्यर्थ हो जायगा ॥२६॥ और प्रधान कर्म मानने से उत्पन्न कर्म के सिवाय शस्त्र से उत्पन्न फल प्राप्त होता है ॥२७॥ तथा प्रधान कर्म के समान स्तोत्र, शास्त्र का ही विधान है ॥२८॥ तथा स्तोत्र और शस्त्र दोनों के फल मिलते सुने

गये हैं ॥२९॥ विधि और मन्त्र दोनों में एक प्रकार के ही शब्द होने से विधि और मन्त्रों का एक ही अर्थ होता है ॥३०॥

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मिन्त्रोऽभिधानवाचो स्यात् ॥३१॥
तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥३२॥
शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥३३॥
अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः ॥३४॥
तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥३५॥
गोतिषु सामाख्या ॥३६॥
शेषे यजुः शब्दः ॥३७॥
निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥३८॥
व्यपदेशाच्च ॥३९॥
यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥४०॥

अथवा कर्म के समय प्रयोग किये जाने से मन्त्र अभिधायक होते हैं ॥३१॥ अग्निहोत्र आदि के विधायक और सिद्ध अर्थ प्रतिपादक वेद वाक्यों की मन्त्र संज्ञा होती है ॥३२॥ मन्त्रों के व्याख्या रूप ब्राह्मण ग्रन्थ भी ब्राह्मण संज्ञा वाले हैं ॥३३॥ ऋषि प्रोक्त होने से ऐतरेय आदि ब्राह्मण में वेदत्व नहीं है इसलिए उन्होंने छोड़कर ईश्वरप्रदत्त मन्त्रों का विभाग कहते हैं ॥३४॥ यहाँ अर्थवश पादों की व्यवस्था है, उन मन्त्रों की ऋग्वेद संज्ञा मानी गई है ॥३५॥ जो मन्त्र गाये जा सकते हैं, उन मंत्रों को साम संज्ञा वाले कहा गया है ॥३६॥ जो मन्त्र पादबद्ध नहीं तथा गाये भी नहीं जा सकते, वे सभी यजुर्वेद संज्ञक हैं ॥३७॥ अथवा जो मन्त्र छन्दोबद्ध और गाये जाने के योग्य हैं, उनके अतिरिक्त, स्पष्ट अर्थ वाले मन्त्र अथर्ववेद संज्ञक हैं। क्योंकि यजुर्वेद के धर्म से वे भिन्न धर्म वाले हैं ॥३८॥ और यह यजुः है, यह निगद है, इस प्रकार व्यवहार में भेद होने से भी निगद यजुः नहीं माना जासकता है ॥३९॥ निगद में यजुः का लक्षण पाया जाता है, इसलिए निगद यजुः ही है ॥४०॥

वचनाद्धर्मविशेषः ॥४१॥
अर्थाच्च ॥४२॥
गुणार्थो व्यपदेशः ॥४३॥
सर्वेषामिति चेत् ॥४४॥
न ऋग्व्यपदेशात् ॥४५॥
अर्थैकत्वादेकं वाक्यं; साकांक्षं चेत्, विभागे स्यात् ॥४६॥
समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥
अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः, सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥
व्यवायान्नानुषज्येत ॥४९॥

यजु और निगद में जो धर्म विशेष रूप भेद है, वह पुरुषान्तर का भेद बताने के लिये है ॥४१॥ और निगद से यजुः होने में जो धर्म विशेष कहा है वह पुरुषान्तर का अर्थ रूप से बोधक कराने के उद्देश्य से है ॥४२॥ यह यजुः है, यह निगद है, ऐसा भेद व्यवहार गुणार्थ से हुआ है ॥४३॥ यदि उच्चस्वर से वोला जाने से निगद है तो ऋग्वेद भी निगद हो जायगा। इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं ॥४४॥ ऊँचे स्वर से बोलने के धर्म की समानता से ऋग् मन्त्रों में निगद का अन्तर्भाव नहीं होगा, क्योंकि उनमें ऋग्वेद से भिन्न उपदेश किया गया है ॥४५॥ क्रिया और कारक पदों में एकार्थ की प्रतीति होने से, यदि उनमें से किसी भी एक पद को अलग करदें तो उसकी आकाँक्षा वाले अन्य पद एक वाक्य रूप होंगे ॥४६॥ निराकांक्ष पदों में प्रति समूह वाक्य भेद हैं ॥४७॥ वाक्य की समाप्ति के लिए, पदान्तर का योग जिन वाक्यों में अपेक्षित हो, उसका अध्याहार करले, क्योंकि, उसका सबसे समान सम्बन्ध है ॥४८॥ मध्य में अन्तर होने से अनुषङ्ग नहीं होता ॥४९॥

॥ प्रथमपाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥
विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥
गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥५॥
चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रात्, चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत् ॥६॥
व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥
पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥९॥
चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥

शब्दान्तर होने से कर्म का भेद है। क्योंकि, आख्यात भेद से कर्मभेद का सम्वन्ध निश्चित है ॥१॥ एक अख्यात पद का, पुनः सुनना इसी प्रकार भेदयुक्त है। क्योंकि, कर्म भेद न मानें तो एक प्रयोग का बारम्बार पाठ व्यर्थ होजायगा ॥२॥ परन्तु, पौर्णमासी वाले प्रकरण में पढ़े गये वाक्य याग के अनुवाद हैं, विधायक नहीं। क्योंकि, उसके याग के रूप का देवता आदि का ज्ञान नहीं होता ॥३॥ समान भाव से प्रकृत सब यागों के अनुवाद की, विद्वत वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि आग्नेय आदि में काल-सम्वन्ध की अधिकता है और वह प्रयाज आदि में उपलब्ध नहीं है ॥४॥ परन्तु, उस कर्म में देवता रूप गुण का विधान, उनका संयोग सुना जाने से है ॥५॥ कर्मविधि वाक्य गुणविधि के विधायक नहीं हैं। क्योंकि, गुणों का एककालीन शासन कहा है। वाक्यान्तर से विहित कर्म में उपदेश किया जाने से वे बतलाये हुए कर्म के लिए हैं ॥६॥ जैसे द्रव्य, देव रूप गुणों का एक साथ विधान गुण-विधि को सिद्ध नहीं करता, वैसे ही समुच्चय व्यपदेश भी गुण विधि का समर्थन नहीं करता ॥७॥ और 'चतुर्दश पौर्णमास्याम्' ऐसा संकेत मिलने से भी 'यदाग्नेय' इत्यादि वाक्य कर्मविधि ही हैं ॥८॥ पौर्णमासी के समान ही उपांशुयाज भी समझना चाहिये ॥९॥ यह कर्म विधायक है, अनुवादक नहीं। क्योंकि, प्रकृतयाग का अभाव है ॥१०॥

गुणोपबन्धात् ॥११॥
प्राये वचनाच्च ॥१२॥
आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥
संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥
अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्य-संयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥

तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥१९॥

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद्, द्रव्यस्य गुणभूत-त्वात् ॥२०॥

गुण के उपबन्ध से उस कर्म की संज्ञा उपांशु है ॥११॥ प्रधान कर्मों में पाठ पाया जाने से वे प्रधान हैं ॥१२॥ याग का स्वरूप उप-लब्ध कराने वाले न होने से आघार और अग्निहोत्र वाक्य अनुवादक हैं ॥१३॥ उक्त वाक्यों से संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है। इसलिये वे विधायक नहीं हो सकते ॥१४॥ तथा प्रकरण में आये वाक्यों में भी द्रव्य, देवता की प्राप्ति ही होती ॥१५॥ अथवा अग्निहोत्र और आघार रूप शब्द का प्रयोग होने से, उनके समीप पठित वाक्य गुण विधि हैं ॥१६॥ द्रव्य संयोग होने से 'सोमेन यजेत' और 'अग्नीषोमीयंपशुमालभेत' वाक्य अपूर्वक्रम से विधायक हैं। यदि 'ऐन्द्रवायवादि' को विधायक मानें तो द्रव्य संयोग व्यर्थ होगा। इसलिये उसका सुनना गुण रूप से भी नहीं मान सकते ॥१७॥ तथा, अपूर्व कर्म के विधायक नहीं, किन्तु पशु और सोम रूप द्रव्य का संस्कार कहने वाले हैं ॥१८॥ पात्रभेद से द्रव्यभेद होने

पर सोमयाग की आवृत्ति है। यदि कर्मावृत्ति न हो तो पात्रभेद व्यर्थ होगा और सोमरूप द्रव्य में गुणी भाव होने से उसकी आवृत्ति स्वयं होजायगी ॥१९॥ यूप का पशु-वन्धन के लिये होने से तथा गौण होने से, पशुबन्धन रूप संस्कार की यूप भेद के कारण भी आवृत्ति नहीं होसकती ॥२०॥

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥
संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥२२॥
गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे, वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥
अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत् ॥२४॥
फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥
अतुल्यत्वात्तु वाक्योर्गुणे तस्य प्रतीयेत् ॥२६॥
समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥
सौभरे, पुरुषश्रुतेर्निधनं, कामसंयोगः ॥२८॥
सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधानार्था पुनः श्रुतिः ॥२९॥

पृथकत्व का निवेश होने से, संख्या भेद के कारण कर्म का भेद बनता है ॥२१॥ और उत्पत्ति-संयोग से, नाम भी कर्म भेद करने वाला कहा गया है ॥२२॥ और प्रकृत देवता से सम्बन्ध न होने से गुण, कर्म का भेदक है, क्योंकि पूर्व और उत्तर दोनों वाक्य समान हैं ॥२३॥ अपूर्वकर्म का विधान करने वाला वाक्य गुण-रहित कर्म का विधायक है। वहाँ, उस वाक्य द्वारा कहे हुए कर्म में वाक्यान्तर से गुण का विधान होता है ॥२४॥ दधि-वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक है, क्योंकि, उसका फल सुना जाता है और फल से कर्म का निश्चित सम्बन्ध है ॥२५॥ अग्निहोत्र और दध्नेन्द्रिय इन दोनों वाक्यों में असमानता है। इसलिए अग्निहोत्र में फल विशेष के गुण का विधान है ॥२६॥ समान वाक्यों में अपूर्व कर्म से फल का सम्बन्ध होता है ॥२७॥ सौभर सम्बन्धी निधन में पुरुष प्रयत्न का उपदेश होने से, वह निधन फल वाला है ॥२८॥ सर्व साम वृष्टि आदि

फल के हेतु हैं, इसलिये सौभर में फल श्रवण है, तथा निधन वाक्य में फल श्रवण व्यवस्था वाला है ॥२९॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥

एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥

आधाने सर्वशेषत्वात् ॥४॥

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥

अगुणा च कर्मचोदना ॥६॥

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥९॥

गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥१०॥

रथन्तर आदि सामरूप गुण के सुनने से अन्य कर्म का प्रेरक है। क्योंकि, उसका अन्य कर्म से संयोग है और वह संयोग मुख्य कर्म से पृथक् करता है ॥१॥ एक ही ज्योतिष्टोम याग के लक्षण भेद से प्रयोजनीय अर्थ के निमित्त वे वाक्य कहे हैं। अतः ग्रह-ग्रहणरूप गुण विशेष का विधायक होने से उनमें एकता है ॥२॥ अवेष्टि नामक याग अपूर्व कर्म का विधायक कहा है। क्योंकि क्षत्रिय का संयोग है ॥३॥ अग्न्याधान और यज्ञोपवीत में विधि है, क्योंकि, यह दोनों सब को पहले से उपलब्ध नहीं हैं ॥४॥ दाक्षयणादि वाक्य में कर्मान्तर की विधि है। क्योंकि उनमें कर्म संज्ञा का बन्धन मिलता है ॥५॥ और अन्य गुण का सम्बन्ध न होने से

कर्ममात्र का विधान मिलता है ॥६॥ तथा यह वाक्य प्रजा आदि फल में

कर्म का सम्वन्ध कहने मात्र से ही निराकांक्ष है ॥७॥ दाक्षायण यज्ञ आदि दर्शपूर्णमास यज्ञ का ही विकार है, क्योंकि, यह उसी प्रकरण में पढ़ा जाता है ॥८॥ तथा लक्षण देखने से भी वह वाक्य गुण विधायक सिद्ध होता है ॥९॥ रूप गुण के बारम्बार कहे जाने से याग की दाक्षायण संज्ञा कही जाती है ॥१०॥

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥
संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥
यावदुक्तं वा कर्मण: श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥
यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥
विषये प्रायदर्शनात् ॥१६॥
अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥
संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थ: श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥
पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेद: ॥१९॥
अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेष: स्यात् ॥२०॥

उस वाक्य का निराकांक्ष होना गुणफल का सम्बन्ध कहने के समान है ॥११॥ प्रकरण में न होने पर भी 'वायव्यंश्वेतम्' आदि वाक्य स्पर्शरूप संस्कार गुण के विधायक हैं, क्योंकि, उनमें कर्म वाचक शब्द नहीं मिलता ॥१२॥ श्रुतिमूलक होने से उन वाक्यों में स्पर्श तथा निर्वयण मात्र कर्म का विधान है ॥१३॥ परन्तु, यह वाक्य प्रधान कर्म के विधायक हैं, क्योंकि द्रव्य, फल और देवता का सम्वन्ध उनमें मिलता है। तथा इन तीनों का नियत सम्बन्ध प्रधान कर्म के साथ है ॥१४॥ और लक्षण देखे जाने से भी पूर्व मान्यता ठीक नहीं है ॥१५॥ प्रकरण को देखकर यागविधि है या संस्कार विधि इसका निर्णय करे ॥१६॥ अर्थवाद से भी वैसा ही अर्थ बनता है ॥१७॥ श्रुति-संयोग से अर्थ शब्द वाली क्रिया के साथ नियोजित पद उपाधान के निमित्त है, याग के निमित्त

नहीं ॥१८॥ पात्नीवते याग में द्रव्य संस्कार का विधान है, अपूर्व याग का नहीं, क्योंकि याग पद पहले ही आचुका है ॥१९॥ द्रव्य और देवता के न होने से केवल अदाभ्य और अंशुग्रहण सुने जाने से याग विधान की कल्पना ठीक नहीं। क्योंकि यह प्रधान कर्म का अङ्ग नहीं, ज्योतिष्टोम का है ॥२०॥

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात्क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥
द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥
तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥
प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥
फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥
सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥२६॥
आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥२७॥
अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेन विधीयते ॥२८॥
अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२९॥

लक्षण देखे जाने से 'अग्नि' वाक्य याग का नाम ही समझना चाहिये ॥२१॥ अथवा प्रेरणा से अग्नि स्थापनार्थं होने से, अग्नि शब्द से अग्नि द्रव्य का विधान हुआ ॥२२॥ यज्ञ से अग्नि का सम्बन्ध होने से अग्नि पद ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक है। इसलिये वह वाक्य याग में स्तोत्र और शस्त्ररूप गुण का विधायक है ॥२३॥ नित्य अग्निहोत्र से मासाग्निहोत्र भिन्न है, क्योंकि यह अन्य प्रकरण में कहा गया है ॥२४॥ तथा कर्म की समीपता से अलग पड़ा हुआ फल प्रकरणान्तर से कर्म-भेद करता है ॥२५॥ अवेष्टि यज्ञ की समीपता वाला 'एतया' वाक्यफल के सम्बन्ध से अवेष्टि याग के बारम्बार करने का निर्देश करता है। विभाग न होने से कर्मान्तर का निर्देश नहीं करता ॥२६॥ आग्नेय आदि में बारम्बार आग्नेय याग के श्रवण से पुनः-पुनः अनुष्ठान करे। क्योंकि, पुनः-पुनः पढ़ना कर्म-भेद को सिद्ध करता है ॥२७॥ फिर-फिरकर कहने से

भी उक्त वाक्य में कर्मान्तर का विधान नहीं है। क्योंकि, पूर्व वाक्य विहित कर्म में, इस वाक्य वाले कर्म की एकता नहीं बनती ॥२८॥ आग्नेय याग का बारम्बार श्रवण ऐन्द्रयाग का स्तावक है ॥२९॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत; तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥३॥

व्यपवर्गं च दर्शयति, कालश्चेत्, कर्मभेदः स्यात् ॥४॥

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥

कर्तुस्तु, धर्मनियमात्, कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥९॥

न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥१०॥

कर्म का प्रकरण होने से जीवन पर्यन्त अनुष्ठान का अभ्यास अग्निहोत्र कर्म का धर्म है ॥१॥ अथवा श्रुति संयोग से 'यावज्जीव' पुरुष का धर्म है ॥२॥ लक्षण देखे जाने से, कर्म का धर्म होने पर कर्म का आरम्भ होने पर मरण पर्यन्त समाप्त करने का नियम है। परन्तु, ऐसा, मानने पर फलक्षय श्रवण व्यर्थ हो जाता है ॥३॥ दर्श आदि कर्म की समाप्ति और कर्मान्तर विधि वाक्यान्तर में मिलती हैं। यदि इसके पश्चात् काल शेष हो तो कर्म विशेष का विधान हो सकता है ॥४॥ अनित्य होने से सामान्य अग्निहोत्रादि काम्य-कर्म जरा, मृत्यु की अवधि वाला नहीं होता ॥५॥ और पूर्व कथित दोषों के समान अनुष्ठान न करना रूप दोष

भी होता है ।।६।। काल शास्त्र के समान 'यावज्जीवन' वाक्य जीवन रूप निमित्त का बोधक है । क्योंकि कर्त्ता के धर्म का नियम माना जाता है ।।७।। विभिन्न शाखाओं में, कर्मों का परस्पर भेद है । क्योंकि नाम, रूप, धर्म विशेष, पुनरुक्ति, निन्दा आसक्ति, समाप्तिवचन, प्रायश्चित, अन्यार्थ दर्शन आदि भेद मिलते हैं ।।८।। प्रतिशाखा में प्रति ब्राह्मण अग्निहोत्रादि कर्म में भेद नहीं है । क्योंकि, फल, स्वरूप, प्रेरणा और नाम में अन्तर नहीं मिलता ।।९।। नाम भेद से अग्निहोत्र कर्मों का भेद नहीं होता । क्योंकि उनकी विधि का विधान पृथक् नहीं है ।।१०।।

सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ।।११।।
कृतकं चाभिधानम् ।।१२।।
एकत्वेऽपि परम् ।।१३।।
विद्यायां धर्मशास्त्रम् ।।१४।।
आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ।।१५।।
अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ।।१६।।
वाक्यासमवायात्, अर्थासन्निधेश्च ।।१७।।
न चैकं प्रतिशिष्यते ।।१८।।
समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ।।१९।।
एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ।।२०।।

और सभी याग एक कठशाखा द्वारा कहे जाने से एक ही कर्म क्यों न मान लिये जांय ।।११।। तथा नाम भेद बनावटी है ।।१२।। प्रतिशाखा, प्रति ब्राह्मण कर्म की एकता से भी एकादशक और द्वादशकपाल रूप भेद तो भिन्न कथन के आधार पर होगा ।।१३।। विद्या के अध्ययन काल में, भूमि पर भोजन करना आदि अङ्ग हैं, कर्म में नहीं ।।१४।। आग्नेययज्ञ के समान पुनर्वचन है ।।१५।। अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ और शाखा में पुनरुक्ति नहीं है । क्योंकि वेद का संयोग सर्वत्र समान रूप से है ।।१६।। एक शाखा में सम्पूर्ण भाव न आने से उसे शाखान्तर में कह देना

पुनरुक्ति नहीं हो सकती ॥१७॥ एक ब्राह्मण या शाखा में कहे कर्म का सभी ब्राह्मण और शाखा वाले पुरुषों में विधान है ॥ १८॥ और कर्म-समाप्ति सूचक वचन होने से भी प्रति ब्राह्मण या प्रति-शाखा में कर्म-भेद नहीं है ॥१९॥ प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा में एक अग्निहोत्र कहा जाने पर भी निन्दा, अशक्ति और समाप्ति वचन मिलते हैं ॥२०॥

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥
प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥
समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥
लिंगमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तत्र कर्मचोदना तस्माद् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥२४॥
द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२५॥
विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥
सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ॥२७॥
उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥
गुणार्था वा पुनः श्रुति ॥२९॥
प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥३०॥
अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ।३१।
विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये, तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्म-प्रत्ययः स्यात् ॥३२॥

उदित या अनुदित होम के समय प्रायश्चित किया हुआ कर्म भेद-पक्ष को सिद्ध करता है ॥२१॥ उदित या अनुदित होम की प्रतिज्ञा का नियम करके फिर उसके विपरीत करने पर प्रायश्चित कहा है ॥२२॥ समाप्ति पूर्व निश्चित होने से प्रतिज्ञा अनुकूल समझनी चाहिये ॥२३॥ लक्षण के समान होने से कर्म में भेद नहीं है । सभी में ज्योतिष्टोम पहिले होता है, वहाँ कर्म-प्रेरणा-विधि नहीं मानते, इसलिये द्वादशाह का आहार

व्यपदेश है ॥२४॥ अग्निरूप द्रव्य के चयन में एकादशिनी याग का उपदेश न होने से विधि-वाक्यों का व्यतिक्रम होता है। फिर भी 'वाचः स्तोम' याग में एकादश यूप विधि के निर्देश से विधि-व्यवस्था हो सकती है। इसलिये वह विधि-वाक्यों का अनुवाद है ॥२५॥ अतिरात्र याग में षोडशी पात्र के ग्रहण या निषेध की विधि के पक्ष में अतिरेक हो सकता है ॥२६॥ सारस्वत सत्र में विप्रतिषेध होने से जो विरोध आता है उसका निराकरण 'यदा' पद के अध्याहार से होता है ॥२७॥ उपहव्य याग में बृहत् और रथन्तर साम का विधान व्यर्थ है। क्योंकि वह स्वभाव से ही उत्पन्न है ॥२८॥ प्रकृति याग से प्राप्त होने पर भी बृहत्साम और रथन्तर साम का पुनर्विधान गुण विशेष सम्बन्धी नियम के लिये है ॥२९॥ एक का विधान दूसरी शाखा में मिलने से भी प्रति ब्राह्मण और प्रतिशाखा में अग्निहोत्र कर्म भेद-रहित है ॥३०॥ प्रत्येक शाखा में अनुष्ठान भेद से ही व्यवस्था होनी चाहिये, क्योंकि क्रम का सम्बन्ध प्रत्येक शाखा में भिन्न है ॥३१॥ अनुष्ठान क्रम के विरोधी पाठ से अङ्ग-अनुष्ठान का सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सभी ब्राह्मण या शाखा में एकता सिद्ध होने पर क्रमानुसार अंगानुष्ठान होता है ॥३२॥

[कर्म-भेद पर विचार करते हुये 'मीमांसा'ने वैदिक कर्मों के तीन विभाग माने हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य से मतलब उन अग्निहोत्र आदि से है जिनको नित्यप्रति करने का आदेश वेदों में दिया गया हैं। नैमित्तिक कर्म त्यौहारों तथा विशेष अवसरों पर किये जाते हैं, जैसे श्रावणी आदि। काम्य किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिये किये जाते हैं। इन समस्त कर्मों में कुछ अंश प्रधान होते हैं कुछ गौण। जैमिनि के मतानुसार यज्ञ-भाग में दो प्रधान अंश हैं—एक द्रव्य या सामग्री का त्याग और दूसरे वेद के यज्ञ-क्रिया वाले मन्त्रों का पाठ। इन दोनों में से अगर किसी एक बात की कमी रह जाय तो वहयज्ञ-याग न रहकर साधारण सामग्री का अग्नि में जलाकर वायु को शुद्ध करने की प्रक्रिया अथवा वेद-मन्त्रों का पाठ कर लेना मात्र रह जायगा। धर्म की प्राप्ति तभी

संभव है जब मन्त्रों सहित सामग्री की आहुतियों द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट किया जाय।

एक स्थान पर यह शङ्का की गई है कि द्रव्य का त्याग अथवा हवन क्रिया ही मुख्य है, मन्त्रों का पाठ तो उसका सहायक कर्म या गौण क्रिया है। पर मीमांसाकार इस मत से सहमत नहीं। वे इन दोनों को समान स्तर का बतलाते हैं और इनमें से किसी एक का अभाव होने से प्रयत्न के निष्फल जाने की बात कहते हैं।

द्रव्य या सामग्री के 'गुण' के साथ ही जैमिनि ने उसके संस्कार पर भी जोर दिया है। यदि सामग्री उत्तम है, पर उसे भली प्रकार शुद्ध नहीं किया गया है तो भी वह उचित प्रतिफल नहीं देगी। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता रहने से यज्ञ में दोष उत्पन्न हो जायगा। अतः सामग्री का 'संस्कार' भी एक आवश्यक विषय है।

तब 'गौण' कर्म कौन से हैं ? यज्ञ-शाला की सजावट, वहाँ पर सुख-सुविधा की व्यवस्था, उसमें इष्ट-मित्रों तथा परिचितों का निमन्त्रण और उनका आदर-सत्कार आदि बातें गौण हैं। इनको कम या अधिक मात्रा में सुविधा और परिस्थिति के अनुसार किया जा सकता है। यज्ञ-फल पर, जो कि अधिकांश में अदृष्ट होता है इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इस अध्याय में एक विचारणीय विषय यह है कि द्रव्य का क्या आशय ग्रहण किया जाय ? विभिन्न सम्प्रदायों में इस विषय पर बहुत मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है कि यज्ञ में अन्य सामग्री के साथ जो पशु लाये जाते हैं वे भी एक 'द्रव्य' ही होते हैं और उनका भी हवन एक-एक अङ्ग पृथक करके किये जाने का विधान है। पर दूसरे पक्ष वालों का मत है कि वे पशु दान के लिये लाए जाते हैं और उनके 'संस्कार' का अर्थ यही है कि उन्हें भली प्रकार साफ करके और सजाकर यज्ञ-स्थल पर लाया जाय। इसमें यह भी ध्यान रखना होता है कि वे पशु बीमार,

बुड्ढे अथवा जर्जर न हों। वरन् उतम श्रेणी के युवा और सब प्रकार से उपयोगी पशुओं का दान करना ही सार्थक माना गया है।

आगे चल कर शाखा-भेद से ज्योतिष्टोम, रथन्तर-साम, अतिरात्र, सारस्वत, उपहव्य नामक विभिन्न प्रकार के यागों में क्रियाओं के भेदों पर विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रतिपक्षी का कहना है कि शाखा और प्रतिशाखा की दृष्टि से वैदिक कर्मों में भेद है, एक्य नहीं है। उन्होंने इस भेद के नौ कारण भी बताये हैं यथा नाम-भेद, रूप-भेद, धर्म-भेद, पुनरुक्ति, निन्दा, अशक्ति, समाप्ति वचन, प्रायश्चित तथा अन्यार्थ-दर्शन। इन विषयों में विभिन्न वैदिक शाखाओं के ग्रन्थों में, जिनकी संख्या ११ ७ मानी गई है, विभिन्न प्रकार की परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। पर मीमांसाकार ने इस शङ्का को निराधार मानकर कहा है कि फलस्वरूप और प्रेरणा की दृष्टि से सब शाखाओं के यज्ञ-कर्म एक से ही होते हैं इसलिये ऊपरी भिन्नताओं के कारण उन्हें पृथक नहीं माना जा सकता।

मीमांसा दर्शन में अग्निहोत्र कर्म को मनुष्य का अनिवार्य धर्म माना है और लिखा है कि जब तक जीवित रहे तब तक इस यज्ञ-कर्म को सदैव करता रहे, कभी इसमें शिथिलता न आने दे। जब अत्यन्त जराजीर्ण अथवा बीमारी से अशक्त हो जाय उस समय विवशता के रूप में उसे स्थगित किया जा सकता है अन्यथा जीवन के अन्त समय अग्नि-होत्र और दर्शपूर्णमास आदि कर्म नियमित रूप से श्रद्धासहित करने से ही आत्मकल्याण साधित हो सकता है। जो लोग प्रमादवश अथवा किसी अन्य स्वार्थवश इस कर्म को त्याग देते हैं या उसमें नागा करते हैं उनका लौकिक और पारलौकिक सुख क्षीण हो जाता है। इस प्रकार नित्य-कर्मों से मनुष्य का छुटकारा किसी काल में नहीं है। यही वेद की आज्ञा है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय (ईशावास्योपनिषद) में कहा गया है—

कुर्वन्नेह वेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयिनान्यन्मथेतोऽस्ति न कर्मं लिप्यते नरे ॥

इस वेद-मन्त्र में 'कर्माणि' शब्द का अर्थ मीमांसा-दर्शन में अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का ही बतलाया गया है। अर्थात् मनुष्य को नित्य अग्निहोत्र तथा पंचयज्ञ करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से वह दोषी नहीं बनता और कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता। जो शास्त्र या उपनिषद् आदि ज्ञान-मार्ग के ग्रन्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् कर्म-काण्ड सम्बन्धी क्रियाओं को त्यागने का विधान करते हैं, वे मीमांसा की दृष्टि से भूलवश पुण्य-मार्ग से वंचित हो जाते हैं।

कर्मकाण्ड में यज्ञों की आहुतियाँ जिन देवताओं को देने का विधान है उनकी विवेचना करते हुए इस दर्शन में एक मुख्य बात यह कही गई है कि देवता का अर्थ किसी दूरवर्ती लोक में बैठे हुये सूक्ष्म या स्थूल शरीरधारी विशेष व्यक्तियों से नहीं है, वरन् परमात्मा की विभिन्न शक्तियों तथा जिन पदार्थों अथवा जीवों में उन शक्तियों का विशेष रूप से विकास हुआ है उनसे है। इन्द्र, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र, सोम, अश्वनी, वरुण प्रजापति आदि जिन देवताओं का उल्लेख वेदों में बार-बार मिलता है, वे परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ ही हैं। ये शक्तियाँ विभिन्न पदार्थों और जीवों में विशेष गुणों के रूप में प्रकट होती हैं जिससे उनको भी 'देवता' कहा जा सकता है। जैसे वेग और शीघ्रता का गुण अश्व अथवा 'वाजी' में प्रकट हुआ है तो उसका वर्णन भी 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्योवाजिनम्'' वाक्य में किया गया है। इसमें कहा गया है कि दूध से बनाये गये पदार्थों में से 'अमिक्षा' विश्वेदेवों के लिए और 'वाजिन' वाजी देवता के लिये दिया जाय। तात्पर्य यही है कि यह समस्त विश्व परमात्मा का ही विराट रूप है और इसमें जहाँ कहीं कोई विशेष गुण या शक्ति दिखाई दे उसे परमात्मा की विभूति मानकर सम्मान करना मनुष्य का कर्तव्य है। इसी प्रकार मनुष्य परमात्मा के स्वरूप को समझ कर उसका सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

[द्वितीय अध्याय में कर्मों के भेद का विवेचन करने के पश्चात् इस तीसरे 'शेषशेषिभाव' शीर्षक अध्याय में यह विचार किया गया है कि यज्ञ संबन्धी सब प्रकार के कर्मों में कौन शेष और कौन शेषी है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक कर्म किसी अन्य प्रधान कर्म का सहायक अथवा पूर्ति करने वाला होता है। फिर उस 'शेष' कर्म के सहायक अथवा पूर्ति करने वाले अन्य कर्म होते हैं। इस प्रकार प्रधान और उनकी पूर्ति में सहायक कर्मों की एक श्रृंखला बन जाती है जिससे एक से दूसरा प्रधान सिद्ध होता जाता है। विभिन्न प्रकार के यागों तथा उनके अङ्गों में कौन किस दर्जे का है इसी का परिचय इस अध्याय से प्राप्त हो सकेगा।]

अथातः शेषलक्षणम् ॥१॥
शेषः परार्थत्वात् ॥२॥
द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥
कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥
फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥
पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥
तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥७॥
विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्, संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च ॥८॥
अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥
फलं तु सह चेष्टया, शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

अब शेष का लक्षण कहते हैं ॥१॥ दूसरे के लिए होने वाला

शेष है ॥२॥ बादरि आचार्य के मत में द्रव्य, गुण तथा संस्कारमें शेष की प्रवृत्ति होती है ॥३॥ फल के लिये होने से यज्ञ, दान आदि भी शेष हैं, यह आचार्य जैमिनी का मत है ॥४॥ और पुरुषार्थ के लिए होने से द्रव्य, गुण, संस्कार और कर्म के समान ही फल शेष है ॥५॥ और कर्म का निमित्त होने से पुरुष भी द्रव्य के समान ही शेष है ॥६॥ उन धर्मों का दृष्ट फल के अनुसार व्रीहि आदि के साथ शेष-शेषि-भाव सम्बन्ध है ॥७॥ शास्त्रोक्त अवहनन आदि कर्म सभी के धर्म हो सकते हैं। क्योंकि प्रधान कर्म के साथ उनका संयोग और प्रकरण समान है ॥८॥ फल दिखाई न देने से सब द्रव्यों में सभी कर्म नहीं हो सकते, उन्हें प्रति द्रव्य के लिये समझना चाहिये ॥९॥ परन्तु, अवहनन क्रिया से तुषविमोक आदि रूप प्रयोजन शब्द का भाव है। फल न होने पर अवहनन आदि का अभाव है ॥१०॥

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥११॥
अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥
एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१ ॥
सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥
चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥१५॥
संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥
व्यवस्था वार्थस्य श्रुतिसंयोगात्, तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥

आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥१८॥
कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥१९॥
साकांक्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

और द्रव्यों का उत्पत्ति संयोग होने से और उसी क्रिया के निमित्त से विधान किए गये हैं ॥११॥ एक वाक्यार्थ में द्रव्य और गुण के परस्पर योग का नियम है। क्योंकि, दोनों का कर्म समान है ॥१२॥

ग्रह आदि का सम्मार्जन एक बार होता है, क्योंकि 'ग्रहम्' में एक वचन सुना जाता है और उसका सम्मार्जन से सम्बन्ध है ।।१३।। अथवा सभी में सम्मार्जन आदि विहित है। क्योंकि लक्षण का उपन्यास महत्व जाति के अभिप्रायः से है, इसलिए लक्षण सब में समान है ।।१४।। याग में जितनी संख्या का विधान हुआ है, उसी का ग्रहण करे। क्योंकि वह परार्थ होने से गौण है।।१५।।अथवा गुण आदि की अव्यवस्था है। क्योंकि वह संस्कार कर्म है ।।१६।। ग्रह का मार्जन होता है, चमस का नहीं। क्योंकि, ग्रहों का सम्मार्जन से धर्म-धर्मिभाव सम्बन्ध है और उसमें शब्द प्रमाण है ।।१७।। उसका अङ्ग होने से निरर्थक होना सिद्ध है ।।१८।। उसमें वाक्य भेद है, क्योंकि कर्त्ता के गुण अभिक्रमण का क्रिया से समवाय-सम्बन्ध नहीं है ।।१९।। परन्तु, 'अभिक्रामंजुहोति' एक भाग है और विभाग करने पर परस्पर साक्षेप हो जाते हैं। केवल 'अभिक्राम' पद से वाक्य पूरा नहीं हो सकता ।।२०।।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ।।२१।।
गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ।।२२।।
मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ।।२३।।
आनन्तर्यमचोदना ।।२४।।
वाक्यानां च समाप्तत्वात ।।२५।।
शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत, मिथस्तेषामसम्बन्धात् ।।२६।।
व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ।।२७।।

उपवीत वाक्य सामधेनी का अङ्ग नहीं हैं, क्योंकि, 'निवित्' नामक मन्त्रों का व्यवधान है ।।२१।। तथा सामधेनी और निवित् मन्त्र परार्थ में होने से और समान होने से, परस्पर अङ्गाङ्गि भाव वाले नहीं हो सकते ।।२२।। वार्त्रघ्नी और वृधन्वती का सब कर्मों से सम्बन्ध नहीं।

क्योंकि वह अर्थ-सम्बन्ध से परे हैं ॥२३॥ केवल आनन्तर्य मात्र अङ्ग-अङ्गी भाव संबन्ध का विधान करने वाला नहीं है ॥२४॥ और उदाहृत वाक्य परस्पर संबन्धित नहीं हैं, क्योंकि अपने पदों द्वारा अपना अर्थ कहने में ही उनका कार्य समाप्त हो जाता है ॥२५॥ आग्नेय संबंधी चार भाग करना सर्व पुरोडाश का अङ्ग है। क्योंकि अग्नि और चार भाग का परस्पर में संबंध नहीं है ॥२६॥ चार भाग करना आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है। क्योंकि, अग्नि का पुरोडाश से संबंध होता है और इनका यह पारस्परिक संबंध पुरोडाशान्तर से अलग करने के लिये है ॥२७॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥
संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ॥२॥
वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥३॥
गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥
तथाह्वानमपीति चेत् ॥५॥
न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥६॥
गुणाभावात् ॥७॥
लिङ्गाच्च ॥८॥
विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥९॥
तथोत्थानविसर्जने ॥१०॥

मंत्र जिस अर्थ को प्रकट करने में समर्थ है, उस अर्थ के प्रति मंत्र में शेषता होती है। इसलिये मंत्रस्थ पदों का अर्थ से नित्य संबंध है ॥१॥ अविहित कर्म में मंत्र का विनियोग नहीं होता, क्योंकि, विहित कर्म के

संस्कारक मंत्र हैं ॥२॥ इन्द्र को बतलाने वाले मन्त्र का लक्षण से विनियोग नहीं होता, किन्तु वाक्य विशेष से होता है ॥३॥ गुण-सम्बन्ध से, 'इन्द्र' शब्द से गार्हपत्य अग्नि का अभिधान होता है। क्योंकि, पदार्थ का सम्बन्ध शास्त्रहेतुक नहीं है ॥४॥ यदि कहो कि 'निवेशनः' इत्यादि मंत्र गार्हपत्य के लिये है और 'हविष्कृत्' इत्यादि भी अवहनन आदि के लिये हैं तो, यह ठीक नहीं ॥५॥ 'अवघ्नन्' पद काल का विधायक है। क्योंकि वह 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य से पूर्व ही विहित है। इसलिये उस वचन से अवहनन क्रिया में विनियोग नहीं हो सकता ॥६॥ गुण का सम्बन्ध न मिलने से 'ऐहि' मंत्र अवहनन का प्रकाश नहीं कर सकता ॥७॥ और लक्षण पाये जाने से अवहनन 'हविष्कृत्' पद का अर्थ भी नहीं हो सकता ॥८॥ यदि 'अवघ्नन्' पद से उस कर्म की विधि मानें तो विधान किया गया 'शतृ' प्रत्यय उपपन्न नहीं होता ॥९॥ तथा उत्तिष्ठन् और विसृजति पद उत्थान-काल और विसर्जन-काल का बोध कराते हैं ॥१०॥

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥
उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥१२॥
स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥१३॥
प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात् ॥१४॥
कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥
यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥
वचनादिति चेत् ॥१७॥
प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥
लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥१९॥
अधिकारे च मन्त्रविधिस्तदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥

और परार्थ होने से, सूक्तस्थ वाक्य में भी काल का ही विधान मानना ठीक है ॥११॥ अथवा उपदेश से ही वह शब्द याग सम्बन्धी देवता का द्योतक है, निमित्त रहित प्रकरण का शब्द नहीं है ॥१२॥

देवता से प्रस्तर का संयोग होने से सूक्तवाक देवता के लिये होने पर भी प्रस्तर का अङ्ग है ॥१३॥ यदि कहो कि प्रस्तर प्रहरण प्रतिपत्ति रूप संस्कार का कर्म है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि स्विष्टकृत कर्म के समान दोनों संस्कार होते हैं ॥१४॥ 'सूक्तवाक' के ग्रहण से सब मंत्रों का प्रहरणाङ्ग होने का उपदेश मिलने से दर्श और पूर्णमास यज्ञ में 'सूक्तवाक' मंत्रों का पाठ करना कहा है ॥१५॥ अथवा यज्ञ के शेषभूत संस्कार होने से सूक्तवाक मन्त्रों का विनियोग होता है ॥१६॥ 'सूक्तवाकेन' इत्यादि वाक्य से सूक्तवाक का मन्त्र का विनियोग उचित नहीं मान सकते ॥१७॥ सूक्तवाक शब्द का ग्रहण दर्श और पूर्णमास दोनों यज्ञों के लिये है। क्योंकि दोनों का प्रकरण एक ही है ॥१८॥ 'काम्या याज्यानुवाक्या' का विनियोग काम्येष्टियों में ही है, यष्टि मात्र में नहीं। क्योंकि, क्रम और समाख्या सहित ऐसे ही लक्षण मिलते हैं ॥१९॥ ज्योतिष्टोम योग के अधिकार में जो मंत्र विधि है, वह तदाख्या रहितों में है। क्योंकि यह साधारण रूप से कहा गया है ॥२०॥

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥
अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता ॥२२॥
सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥
लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥
तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य, चोदितत्वात् ॥२५॥
गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात्॥२६
लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणा-
ममन्त्रत्वम् ॥२७॥
यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥
पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं, द्विशेषत्वात् ॥२९॥
अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम् ॥३०॥

जिन मंत्रों को प्रकरण में देखा गया है, उन्हीं का विनियोग है।

यही बात प्रकरण और युक्ति से सिद्ध है ॥२१॥ यदि अप्राकृत मन्त्रों का विनियोग मानें तो उपदेश विधि निष्फल हो जायगी और फलित ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध न होने से जिस स्थान से सम्बन्ध है वह फलदायक नहीं है ॥२२॥ वाचः स्तोम याग में सब मंत्रों के विनियोग का उपदेश होने से विनियोग किये हुए का फिर विनियोग करने में दोष नहीं ॥२३॥ अनुवाक का भक्षण में ही प्रयोग होने का विनियोग है, यह लक्षण और समाख्या से सिद्ध होता है ॥२४॥ भक्षानुवाक का अभक्षण आदि में भी विनियोग है। रूप आदि का विधान होने से ग्रहण आदि का भक्षण विधान की विधि से ही कहा जाना समझना चाहिये ॥२५॥ मंद्र आदि सम्पूर्ण मंत्र भक्षण का लक्षण है, तृप्ति का नहीं। क्योंकि तृप्ति का गौण रूप से कथन है। मंत्र के दोनों भागों का एकार्थ संयोग है ॥२ ॥ समान विधान में जो 'ऐन्द्र' पद ईश्वर के लिये नहीं है, उनके भक्षण में मन्त्र का विनियोग नहीं है। क्योंकि उसनें लक्षण विशेष का निर्देश मिलता ॥२७॥ अथवा देवता के अनुसार ही मन्त्र का विनियोग होना चाहिये। क्योंकि, इन्द्र और इन्द्र से भिन्न का विकृतिभाव देखा जाता है ॥२८॥ ग्रहों में पुनः डाले गए सोमरस के भक्षण में इन्द्र और मैत्रावरुण आदि सबकी ऊहा करनी चाहिये। क्योंकि, वह सोम-भक्षण योग्य शेष है ॥२९॥ अथवा पहिले आहूत देवता की भक्ष मन्त्र में ऊहा नहीं होती। क्योंकि भक्ष्य शेष से उसका सम्बन्ध नहीं रहता ॥३०॥

ग्रहणाद्वाऽनपायः स्यात् ॥३१॥
पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥
ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात् ॥३३॥
त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात् ॥३४॥
अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥३५॥
त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥३६॥
वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥३७॥

छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३८॥
ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात् ॥३९॥
एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥४०॥
छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥
सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥४२॥
सर्वेषां वैकमंत्र्यमैतिशातनस्य
भक्तिपानत्वात्सवनाधिकारो हि ॥४३॥

इन्द्र-सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता, क्योंकि उसका ग्रहण पाया जाता है। इसलिये पूर्व पक्ष नहीं माना जा सकता ॥३१॥ पात्नीवत का होम शेष भक्षण के समय भक्ष-मन्त्र में पहिले की भाँति ऊहा करनी चाहिये ॥३२॥ पात्नीवत पात्र के शेष में इन्द्र-वायु के सम्बन्ध का विच्छेद है। क्योंकि, उसमें पूर्व देवता-रहित आग्रयण स्थाली से निकाले हुए का ग्रहण होता है ॥३३॥ त्वष्टा की पात्नीवत शेष-भक्षण में ऊहा होनी चाहिये। क्योंकि सोम-पान कहा गया है ॥३४॥ इस प्रकार पात्नीवत से त्वष्टा की ऊहा नहीं होती। क्योंकि, सोम-ग्रहण में, दोनों में समानता नहीं है ॥३५॥ तथा परार्थ होने से तेतीस देवताओं की ऊहा नहीं हो सकती ॥३६॥ और अध्वर्यु आदि की यशः मंत्र में प्राप्ति न होने के समान अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी प्राप्ति नहीं होती ॥३७॥ जगती छन्द के निषेध से अनुष्टुप् छन्द की ऊहा प्रमाण नहीं। क्योंकि, ज्योतिष्टोम के एक होने से सोम और उसके अन्य धर्म का सान्निध्य समान ही है ॥३८॥ ऐन्द्राग्न नामक ग्रह-शेष के भक्षण में, विनियोजक लिंग की विद्यमानता से, भक्ष-मन्त्र का विनियोग है ॥३९॥ एक सोम भक्षण में ही चार भाग करने से इन्द्र और इन्द्राग्नि देवता में भिन्नता है ॥४०॥ जैसे इन्द्र को देकर बचे हुए शेष सोम के भक्षण में भक्ष-मन्त्र का प्रयोग है, वैसे ही गायत्री छन्द वाले शेष सोम भक्ष्य में भी उस मन्त्र का विनियोग उचित है ॥४१॥ ऐन्द्र सोम के एक छन्द वाला न होने से, अनेक

छन्द वालों में भी भक्ष मंत्र का विनियोग होता है ॥४२॥ परन्तु, इन्द्र, अनैन्द्र सभी शेष भक्षण में एक ही भक्ष मन्त्र का विनियोग है। क्योंकि, ऐतिशायन ऋषि के मत में 'दा' धातु के अर्थ में 'पा' का प्रयोग कर बहुव्रीहि समास से लक्षणावृत्ति के आश्रय से 'सवन' अर्थ किया है ॥४३॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥
वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥
लिङ्गाच्च ॥३॥
धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥
त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥
व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥
न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥७॥
वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्यते ॥८॥
गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥९॥
भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥१०॥

धर्म विशिष्ट मन्त्रों में 'उच्चैस्त्व' आदि धर्म है। क्योंकि उनके विधायक वाक्यों में मन्त्र वाचक 'ऋचा' आदि का उपदेश मिलता है ॥१॥ पूर्वोक्त वाक्यों में 'ऋचा' आदि शब्द ऋग्वेद आदि के वाचक हैं। क्योंकि वेदों के उपक्रम से यह पद प्रयुक्त हुए हैं ॥२॥ तथा उसका लक्षण पाये जाने से भी यही ठीक है ॥४॥ और धर्म का उपदेश होने से भी साम द्रव्य से उच्चैस्त्व धर्म का सम्बन्ध नहीं बनता ॥४॥ तथा तीनों वेद के ज्ञाता में त्रयीविद्या नामक प्रवृत्ति मिलती है, उससे भी यही सिद्ध होता है ॥५॥ यदि कहें कि व्यतिक्रम होने पर श्रुति के अनुकूल

धर्म की कल्पना करे, इससे ऋचादि को वेदवाची मानना ठीक नहीं ॥६॥ उस धर्म का सम्पूर्ण वेद में निवेश होने से ऋचा-पाठ के व्यतिक्रम से धर्म का व्यतिक्रम होने में कोई दोष नहीं है ॥७॥ वेद का सम्बन्ध होने से 'उच्चैस्त्व' आदि का नियम है। प्रकरण से उसकी बाधा नहीं होती ॥८॥ गुण और मुख्य में आशंका होने पर मुख्य के साथ ही वेद धर्म का सम्बन्ध है। क्योंकि गुण और धर्म का सम्बन्ध मुख से ही है ॥९॥ दो वेदों में सुने कर्म का विधान अंगों की अधिकता पर निर्भर है ॥१०॥

असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थित्वात् ॥११॥
क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥
आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥
श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पार-
दौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥
अहीनो वा प्रकरणाद्गौणः ॥१५॥
असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते ॥१६॥
द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥१७॥
पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥
न प्रकृतेरेकसयोगात् ॥१९॥
जाघनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥

श्रुति, लक्षण और वाक्य से जिसका विनियोग न हो, उसका विनियोग प्रकरण से समझे । क्योंकि, प्रधान को अंग-विनियोग की आकांक्षा है ॥११॥ अनुमंत्रण-मंत्र और उपांशुयाग का एक ही स्थान होने से उनका अंग-अंगी भाव सम्बन्ध बनता है ॥१२॥ व्युत्पत्ति द्वारा कर्त्ता-क्रिया का योग होने से समाख्या भी विनियोजक ही है ॥१३॥ श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्यान इन छओं के मिलने पर पहिला प्रबल और बाद का निर्बल होता है। क्योंकि पहिले से जल्दी और बाद के से देर से विनियोग होता है ॥१४॥ 'अहीन' ज्योतिष्टोम

की गौण संज्ञा है, प्रकरण में उसका पाठ मिलता है ॥१५॥ 'अहीन' संज्ञक यागान्तर में द्वादश 'उपसद्' का अपकर्ष रूप सम्बन्ध है। क्योंकि मुख्य वृत्ति द्वारा अहीन का असंयोग है ॥१६॥ अथवा द्विवचन और बहु वचन वाले मंत्रों को ज्योतिष्टोम से अलग कर 'कुलाय' आदि में विनियुक्त करे। क्योंकि ज्योतिष्टोम में यजमान की प्रेरणा नहीं है ॥१७॥ यदि कहें कि यजमान के असमर्थ होने से ज्योतिष्टोम में भी अर्थ कारण से एक या दो यजमान हों तो यह ठीक नहीं है ॥१८॥ ज्योतिष्टोम में एक यजमान का ही विधान होने से उक्त कथन ठीक नहीं ॥१९॥ जाघनी का पशुयाग में उत्कर्ष रूप सम्बन्ध है और उक्त पशु उस याग का अंग है ॥२०॥

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥२१॥
एकदेश इति चेत् ॥२२॥
न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥२३॥
सन्तर्दनं प्रकृतौ, क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥२४॥
उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ॥२५॥
कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२६॥
क्रतुतो बाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥
संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥
उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२९॥
अविशेषात्स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥३०॥

'पत्नीसंयाज' के अंग रूप से जाघनी का विधान है। इससे अपूर्व लाभ होता है और पशु-अंग जाघनी की प्राप्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है ॥२१॥ यदि कहें कि जाघनी एक अङ्ग होने से पशुयाग में ही सम्भव है ॥२२॥ प्रकृत याग में जाघनी का सम्बन्ध स्वीकार करें तो शास्त्र-विरुद्ध हिंसा करनी होगी ॥२३॥ सन्तर्दन का अग्निष्टोम में पाठ है। ऐसा करने से वाक्यार्थ का लोप नहीं होता और सोम क्रय करने

के साधन स्वर्ण के समान उसका भी विधान हो सकता है ॥२४॥ किन्तु, अग्निष्टोम प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष है। उस वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घ सोम रूप विशेषण ग्रहण हुआ है ॥२५॥ यजमान के सम्बन्ध से ही विशेषण है, क्योंकि दीर्घ शब्द यजमान के लिये है ॥२६॥ याग सम्बन्ध से विशेषण मानने से 'धृत्यै' से सन्तर्दन का सोम धारण रूप फल सिद्ध नहीं होता ॥२७॥ ज्योतिष्टोम के कर्त्ता के निवेश के समान सन्तर्दन का भी निवेश है, क्योंकि सोम धारण सब में समान है ॥२८॥ उक्थ्य में सन्तर्दन का फल विद्यमान होने से उसी में सम्बन्ध मानना चाहिये ॥२९॥ उक्थ्यादि की प्रशंसा व्यर्थ है। क्योंकि अग्निष्टोम की सब संस्थाओं में सोम समान है, ऐसा कथन ठीक नहीं ॥३०॥

स्यादनित्यत्वात् ॥३१॥
सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥३२॥
नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥
पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात्प्रकृतौ ॥३४॥
तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥३५॥
चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३६॥
चरावपीति चेत् ॥३७॥
न पक्तिनामत्वात् ॥३८॥
एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३९॥
धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

दश मुट्ठी परिमाण के विधायक शास्त्र के अनित्य होने से उक्थ्यादि में सोम की अधिकता है ॥३१॥ संख्या-वाची वाक्य कर्म का निषेधक है। क्योंकि उक्त प्रकरण में उसका पाठ है ॥३२॥ कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के लिये ज्योतिष्टोम का प्रथम नाम कहा है, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है ॥३३॥ पुष्टिकारक पदार्थों को पीस कर प्रदान

करना पूषा के विकृतियाग में है। क्योंकि दर्शपूर्णमास में पूषा की विधि नहीं है ॥३४॥ समान रूप से विधान होने के कारण वह पेषण ईश्वर निमित्त पदार्थों से सम्बद्ध होना चाहिये ॥३५॥ केवल चरु के पेषण का सम्बन्ध है, पुरोडाश में वह पूर्व अर्थ से सम्बन्धित है। पीसने रूप अर्थ के विप्रतिषेध से पशु में न होना ही सिद्ध होता है ॥३६॥ यदि कहें कि चरु में भी पिसाई सम्भव नहीं तो यह कथन नहीं मान सकते ॥३७॥ पके भात को चरु कहते हैं, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ॥३८॥ एक-देवतापरक-याग सम्बन्धी चरु में पेषण का निवेश है, परन्तु, दो-देवता-परक-याग के चरु में नहीं ॥३९॥ तथा दोनों के धर्मों का विरोध होने से भी दो देवता वाले चरु में पेषण का निवेश नहीं होता ॥४०॥

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥४१॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥४२॥
वचनात्सर्वपेषणं, तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावाद्धि चरावपेषणं भवति ॥४३॥
एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ॥४४॥
हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥४५॥
वचनं परम् ॥४६॥

दो देवता वाले चरु में भी पेषण-सम्बन्ध होना चाहिये। क्योंकि देवता उसमें निमित्त है ॥४१॥ और लक्षण देखे जाने से भी यही सिद्ध होता है ॥४२॥ पशु, पुरोडाश और चरु इन सब में पेषण मानने से, उसके प्रति वह वाक्य अर्थ वाला होता है। फल का अभाव होने से यदि पशु-पुरोडाश उस पेषण को न मानें तो सौमापौष्ण चरु में भी वह नहीं होगा ॥४३॥ ऐन्द्राग्न के समान एक देवतापरक पौष्ण चरु में ही पेषण का निवेश है। दो देवतापरक दोनों में नहीं। क्योकि, अर्थ धर्मत्व होने से उसका 'सौमापौष्ण' आदि में विधान नहीं ॥४४॥ उसमें 'अदन्तत्व'

कथन देवता मात्र के शरीर हीन होने का कारण है ।।४५।। यह विधि वाक्य है और विधि-वाक्य लक्षण नहीं होता ।।४६।।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ।।१।।
अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ।।२।।
विधिस्त्वपूर्वत्वात्स्यात् ।।३।।
स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ।।४।।
वाक्यशेषत्वात् ।।५।।
तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ।।६।।
तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ।।७।।
अर्थवादो वा प्रकरणात् ।।८।।
विधिना चैकवाक्यत्वात् ।।९।।
दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ।।१०।।

मनुष्य सम्बन्धी कर्म की प्रधानता होने से 'निवीत' उसी का अङ्ग माना गया है ।।१।। निवीत पहिले से सिद्ध होने के कारण अनुवादक है, विधायक नहीं ।।२।। निवीत रूप अर्थ के अपूर्व होने से, यह विधि-वाक्य है ।।३।। निवीत प्रकृत कर्म का अङ्ग है, क्योंकि उस प्रकरण में उसका पाठ है ।।४।। वाक्य शेष में पठित 'आध्वर्यम्' समाख्या से अध्वर्यु कर्तृक प्रकृत कर्म के अङ्ग निवीत का विधान हुआ है ।।५।। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में मनुष्य कर्म के अङ्ग रूप निवीत का विधायक वह वाक्य है ।।६।। वह वाक्य मनुष्य प्रधान कर्मों में निवीत रूप अङ्गों का विधायक है। उपवीत वाक्य के समान बोध वाला होने से 'मनुष्याणाम्' के अर्थ

में घटित होता है ।।७।। वह वाक्य, प्रकरण में आने से अर्थवाद है ।।८।। उपवीत विधिवाक्य के साथ, वाक्य की एकवाक्यता प्राप्त होने से उस अर्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं ।।९।। निवीत के समान् दिग्विभाग भी अर्थवाद है. वह दिग् सम्वन्ध अर्थ का हेतु है ।।१०।।

परुषि दितपूर्णघृतविदग्ध च तद्वत् ।।११।।
अकर्म ऋतुसंयुक्त संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ।।१२।।
विधिर्वा संयोगान्तरात् ।।१३।।
अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ।।१४।।
प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य सस्कारो द्रव्यवत् ।।१५।।
व्यपदेशादपकृष्येत ।।१६।।
शंयो च सर्वपरिदानात् ।।१७।।
प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ।।१८।।
अन्नप्रतिषेधाच्च ।।१९।।
अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ।।२०।।

और निवीत के समान परुषिहित, पूर्ण, घृत और विदग्ध यह अर्थवाद ही हैं ।।११।। दर्शपूर्णमास में कहा गया अनृत निषेध, निषेध-वाक्यान्तर से विधान होने से नित्य प्राप्त का अनुवाद है ।।१२।। उद्देश्य भेद से निषेध-वाक्य विधि रूप है, अनुवादक नहीं ।।१३।। अहीन के समान जंभाई निमित्तक मन्त्र का उच्चारण भी पुरुष मात्र का धर्म है। क्योंकि उसका विधान उसी उद्देश्य से है ।।१४।। प्रकरण विशेष से व्रीहि-प्रोक्षण के समान, याग सम्बन्धी पुरुष का मंत्रोच्चारण संस्कार है ।।१५।। व्यपदेश से 'उपसद' होम का अपकर्ष होता है ।।१६।। तथा शंयु के उप-देश में ब्राह्मण मात्र के लिये अवगोरण आदि का निषेध है ।।१७।। यज्ञारम्भ से पूर्व ही रजस्वला को यज्ञ भूमि से बाहर करके यज्ञ करने का विधान है तथा उससे सर्व प्रकार के सम्भाषण का भी निषेध है ।।१८।। तथा रजस्वला सम्बन्धी समागम का भी निषेध कहा है ।।१९।।

यज्ञ में, प्रकरण न होने पर भी सुवर्ण धारण आदि मनुष्य मात्र का धर्म है ॥२०॥

अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ॥२१॥
वेदसंयोगात् ॥२२॥
द्रव्यसंयोगाच्च ॥२३॥
स्याद्वाऽस्यसंयोगवत्फलेन: सम्बन्धरतस्मात्कर्मैतिशायनः ॥२४॥
शेषाः प्रकरणेऽविशेषात्सर्वकर्मणाम् ॥२५॥
होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनोयसंयोगात् ॥२६॥
शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥
दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्; शास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥
अर्थवादो वाऽनुपपातात्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ॥२९॥
अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३०॥

सुवर्ण आदि का धारण यज्ञ का शेष है, क्योंकि वह अद्रव्य है ॥२१॥ उस वाक्य का यजुर्वेद से सम्बन्ध है ॥२२॥ और उस वाक्य में आया 'हिरण्य' पद याग-सम्बन्धी सुवर्ण का स्मारक है । इसलिये भी उपरोक्त कथन मान्य है ॥२३॥ फल वाले कार्यों के समान सुवर्ण धारण का भी फल के साथ सम्बन्ध है । इसलिये वह प्रधान कर्म है, यह ऐतिशायन ऋषि का मत है ॥२४॥ अप्रकरण वाले 'जय' आदि होम सब कर्मों के अङ्ग हैं, क्योंकि उसमें समानता है ॥२५॥ वैदिक कर्म और होम दोनों के ही अग्नि सम्बन्धी होने से 'जय' आदि होम वैदिक कर्मों में ही हैं ॥२६॥ तथा 'आध्वर्यवम्' काण्ड में पठित होने से वैदिक कर्म का अङ्ग है ॥२७॥ इष्टि का विधान सांसारिक अश्व प्रतिग्रह में भी होता है । क्योंकि, प्रतिग्रह में दोष है और वैदिक अश्व प्रतिग्रह में शास्त्र सम्मत होने से दोष नहीं है ॥२८॥ जलोदर रोग की निवृत्ति के लिये

उक्त इष्टि का कहा जाना अर्थवाद है, क्योंकि अश्व प्रतिग्रह निर्दोष है। इसलिये जिस यज्ञ से अश्व दक्षिणा है, उसमें अङ्ग रूप से इष्टि का कर्तव्य होना समझना चाहिये ॥२९॥ तथा प्रतिग्रहदाता को इष्टि का विधान नहीं, प्रतिग्रह ग्रहण करने वाले को है। इस प्रकार दान और प्रतिग्रह में भेद है ॥३०॥

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥३१॥
पानव्यापच्च तद्वत् ॥३२॥
दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ॥३३॥
तत्सर्वत्राविशेषात् ॥३४॥
स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥३५॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥३६॥
सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥
निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥
उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥
कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

प्रमाण सिद्ध होने से उक्त इष्टि यजमान का ही कर्त्तव्य है ॥३१॥ अश्वदान निमित्त वाली इष्टि के समान सोम-पान-वमन निमित्त वाली इष्टि भी करे ॥३२॥ वैदिक सोमपान में वमन होने पर इष्टि करनी चाहिये, क्योंकि वमन का दोष कहा है। परन्तु लौकिक सोमपान वमन के लिये कराया जाने से वमन में दोष नहीं है। ॥३३॥ वह सोम वमन ऋत्विक्-यजमान दोनों को इष्टि करने में कारण है, क्योंकि दोनों में समानता पढ़ी गयी है ॥३४॥ (समाधान) कर्म फल का भोगने वाला होने से यजमान को ही इष्टि करनी चाहिये ॥३५॥ लक्षण मिलने से भी यही अर्थ सिद्ध होता है ॥३६॥ सम्पूर्ण हवि अग्नि के निमित्त होने से, उसका अग्नि में ही प्रक्षेप करे ॥३७॥ (समाधान) होमादि के लिये कुछ पुरोडाश शेष रहता है। अंगूठे के पोरुवे के समान

दो टुकड़े कृत्स्न पुरोडाश से काट कर यज्ञ करे ॥३८॥ सब पुरोडाश होम के लिये होने से 'द्विर्हविष:' शब्द से होम विधि कही है। 'द्विरवदान' से केवल दो अवदान हवन करना उचित है ॥३९॥ एक बार हवन करने से हवन विधि वाला वाक्य चरितार्थ होता है और शेष गुणभूत होने से वह पुरोडाश प्रयोजनीय नहीं रहता ॥४०॥

शेषदर्शनाच्च ॥४१॥
अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥
संस्कृतत्वाच्च ॥४३॥
सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥
लिंगदर्शनाच्च ॥४५॥
एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ॥४६॥
मुखग्राद्वापूर्वकालत्वात् ॥४७॥
भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥४८॥
तत्संस्तवाच्च ॥४९॥
भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥
व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥५१॥

तथा शेष पुरोडाश के कार्यों का विधान भी मिलता है ॥४१॥ एक हवि से 'स्विष्टकृत्' करे तीनों हवि से नहीं। शेष हवि के गुणभूत होने से वह हवि बार-बार प्रयोजनीय नहीं है ॥४२॥ कर्म के एक बार हो जाने से भी प्रधान हवि संस्कृत होती है ॥४३॥ यह कर्म सभी शेष आहुतियों से करने योग्य है। क्योंकि, कारण की समानता है और संस्कार हवि मात्र के निमित्त है ॥४४॥ तथा ऐसे ही लक्षण देखे जाते हैं ॥४५॥ (शङ्का) एक हवि पक्ष है तो स्वेच्छापूर्वक किसी एक हवि से उक्त कर्म का अवदान करना चाहिये। क्योंकि, उन तीनों हवियों में समानता है ॥४६॥ (समाधान) अथवा इस हवि का ईश्वर के लिये अवदान होता है। इसलिये उसका प्रथम अवदान करे ॥४७॥ दान

विधायक वाक्य में भक्षण का नाम न होने से ऋत्विजों को चार विभाग करके देना, परिक्रय के लिये है ॥४८॥ तथा पुरोडाश दान की दक्षिणा के लिये स्तुति से कर्म की सिद्धि होती है ॥४९॥ (समाधान) पुरोडाश भक्षणार्थ ही है, परिक्रयार्थ नहीं। क्योंकि पुरोडाश में यजमान और ऋत्विज् समान अधिकारी हैं ॥५०॥ पुरोडाश दान की दक्षिणा रूप से स्तुति कहने मात्र से है ॥५१॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

पंचम पाद

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥१॥
कारणाच्च ॥२॥
एकस्मिन्समवत्तशब्दात् ॥३॥
आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥
अशेषत्वात्तु नैवं स्यात्सर्वादानादशेषता ॥५॥
साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥
अक्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥
चमसवदिति चेत् ॥८॥
न चोदनाविरोधाद्धविः प्रकल्पनाच्च ॥९॥
उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ॥१०॥

शेष-आज्य से कर्म करे। क्योंकि, उक्त कर्म के लिये सब हवियों में अवदान का विधान है ॥१॥ तथा स्विष्टकृत् हवियों के संस्कार का कारण होने से भी उक्त मान्यता सिद्ध होती है ॥२॥ आदित्य चरु रूप हवि में 'समवद्यति' का प्रयोग मिलने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है ॥३॥ और ध्रौव घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म करे। क्योंकि अर्थवाद वाक्य उसका समर्थक है ॥४॥ स्विष्टकृत आदि में ध्रौव से अवदान सम्भव

नहीं । क्योंकि, वह उपांशुयाज शेष नहीं । सर्व ग्रहणीय कृत का हवन होने पर उपांशुयाज के घृत का शेष नहीं रहता ।।४।। उपांशुयाज के बाद बचा ध्रौव घृत उपांशुयाज का शेष नहीं माना जाता । क्योंकि वह सब कर्मों में समान है ।।६।। जुहू का घी सब हवन के लिये अवदान किया गया है और उसका होना प्रधान होम के संयोग से है ।।७।। (शङ्का) चमस में ग्रहण सोम के हवन के समान, जुहू द्वारा घृत से स्विष्टकृत आदि कर्म करने चाहिये । ऐसा कहना ठीक नहीं ।।८।। (समाधान) विधि वाक्य से विरोध होने के कारण उक्त कथन ठीक नहीं । तथा केवल हवि की कल्पना मिलने से हवन का संयोग नहीं बनता ।।९।। प्रकरण में होने से, शेष रहने पर वाक्य प्रवृत्ति से सब हवि से होम करना कहा है ।।१०।।

जातिविशेषात्परम् ।।११।।
अन्त्यमरेकार्थे ।।१२।।
साकम्प्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ।।१३।।
सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ।।१४।।
तद्वच्च शेषवचनम् ।।१५।।
द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ।।१६।।
अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यवशिष्टत्वात् ।।१७।।
ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ।।१८।।
सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ।।१९ ।
स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ।।२०।।

'प्रायणीय' इष्टि में आदित्य चरु के पास 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलता है, वह भात और घृत सम्बन्धी जाति के अभिप्राय वाला है ।।११।। ध्रौव घृत से प्रत्यभिधारण कहा है, वह ध्रुवापात्र के रिक्त न होने से है ।।१२।। उपांशुयाज के समान साकंप्रस्थायीय संज्ञा वाले यज्ञ में, स्विष्टकृत् और इडा अवदान कर्म नहीं होता ।।१३।। तथा सौत्रामणि यज्ञ में ग्रहों में भी हवन का निषेध किया है । इसलिये पूर्वोक्त कर्म

कर्त्तव्य नहीं ।।१४।। तथा ग्रहों से होम के विधायक वाक्य शेष 'साकं-प्रस्थायीय' के समान स्विष्टकृत् आदि अकर्त्तव्यता सूचक हैं ।।१५।। द्रव्य के एकत्व से भी प्रधान कर्म का भेद होने से प्रत्येक प्रधान कर्म के प्रति स्विष्टकृत् आदि कर्म करे ।।१६।। हवि त्याग के बाद बची हुई शेष हवि और उससे पहिली हवि में परस्पर भेद नहीं है । क्योंकि पुरोडाश हवि सब प्रधान कर्मों में समान ही है ।।१७।। ऐन्द्रवायव संज्ञा वाले पात्र में प्रत्येक कर्म के प्रति भक्षण होना चाहिये । क्योंकि वाक्य विशेष से ऐसा ही होता है ।।१८।। ज्योतिष्टोम में शेष सोम भक्षण का विधान नहीं । क्योंकि उसका विधायक वाक्य नहीं मिलता ।।१९।। शेष सोमों का भक्षण होने में अन्य वस्तु का विधान मिलता है ।।२०।।

वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ।।२१।।
चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ।।२२।।
उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ।।२३।।
सर्वे वा सर्वसंयोगात् ।।२४।।
स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ।।२५।।
सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात् ।।२६।।
ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ।।२७।।
हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ।।२८।।
चमसिनां वा सन्निधानात् ।।२९।।
सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः ।।३०।।

अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक होने से 'सर्वतः परिहारम्' वाक्य भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण का विधायक है । इसलिये जहाँ विशिष्ट भक्षण सुनते हैं, वहीं भक्षण का विधान समझना चाहिये ।।२१।। चमस में समाख्या के आधार पर शेष सोम को भक्ष्य कहा है । क्योंकि समाख्या सम्बन्ध भक्षण के लिये है ।।२२।। उद्गातृचमस नामक पात्र में शेष सोम का एक उद्गाता ही भक्षण करे । क्योंकि श्रुति में बहुत से उद्गातृ

का संयोग है ॥२३॥ (समाधान) पात्र में सब ऋत्विजों द्वारा शेष सोम का भक्षण करना उचित है। सर्वं वचक बहु वचन का उस पात्र से सम्बन्ध है ॥२४॥ उस पात्र में उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्त्ता को भक्षण करना चाहिये। क्योंकि, उनके संयोग से बहु वचन का प्रयोग है ॥२५॥ चारों का सामवेद से सम्बन्ध होने के कारण उक्त तीनों ऋत्विक् और सुब्रह्मण्य इन चारों को खाना चाहिये। और उद्गाता में जो उद्गातृ शब्द है वह 'उद्गीथ' गान के लिये है ॥२६॥ 'ग्रावस्तुत्' संज्ञा वाले ऋत्विक् का हारियोजन नामक पात्र में अवशिष्ट सोम का भक्षण करना उचित नहीं है। क्योंकि, वैसा विधान नहीं मिलता ॥२७॥ (समाधान) हारियोजन पात्र में ग्रावस्तुत् को भी शेष सोम भक्षण का अधिकार है। क्योंकि, उक्त पात्र के सोम का भक्षण करने में उसका भी सम्बन्ध कहा गया है ॥२८॥ सन्निधान होने से चमसियों का ग्रहण है ॥२९॥ सर्वं शब्द से चमसी, अचमसी ऋत्विजों का ग्रहण है। क्योंकि, हारियोजन पात्र में सर्व भक्षण का विधान है और चमसियों के ग्रहण वाला वाक्य पात्र की प्रशंसा के लिये है ॥३०॥

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥
होमाऽभिषवाभ्यां च ॥३२॥
प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥३३॥
स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥३५॥
एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥३६॥
होता वा मन्त्रवर्णात् ॥३७॥
वचनाच्च ॥३८॥
कारणानुपूर्व्याच्च ॥३९॥

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥४०॥

तथा वषट्कार होने से वषट्कार-कर्त्ता को शेष सोम का पहिले भक्षण करना चाहिये ।।३१।। तथा होम और अभिषव का प्रयोग सोम भक्षण के निमित्त ही समझना चाहिये ।।३२।। चमसियाँ चमस भक्षण में निमित्त हैं तथा 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः' वाक्य चमस से अलग ग्रहों के भक्षण में है ।।३३।। (समाधान) वषट्कार आदि भी चमस भक्षण के निमित्त हैं, क्योंकि. वे कारण रूप हैं और चमसियों का चमस भक्षण में निमित्त होने सम्वन्धी कथन न मिलने से 'यथा चमसम्' वाक्य वैसा विधान करने वाला है ।।३४।। चमस-अध्वर्यु द्वारा चमसों की प्राप्ति देखे जाने से वषट्कर्त्ता आदि का भी चमस में सोम भक्षण मिलता है ।।३५।। एक ही पात्र में भक्षण का विधान होने से अध्वर्यु को प्रथम भक्षण करना चाहिये । ऐसा ही क्रम मिलता है ।।३६। मन्त्रवर्ण में होने से होता को पूर्व भक्षण करना चाहिये ।।३७।। वाक्य विशेष से भी इसका समर्थन होता है ।।३८।। और कारण क्रम से भी यही मान्यता उचित प्रतीत होती है ।।३९।। वाक्य द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि अनुज्ञा पूर्वक ही सोम-भक्षण करे ।।४०।।

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ।।४१।।
तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ।।४२।।
तदेकपात्राणां समवायात् ।।४३।।
याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ।।४४।।
यष्टुर्वा कारणागमात् ।।४५।।
प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ।।४६।।
फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ।।४७।।
इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४८।।
होमात् ।।४९।।
चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ।।५०।।
लिङ्गदर्शनाच्च ।।५१।।

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥५२॥
ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥५३॥

उस सोम भक्षण का 'उपहूत उपह्वयस्व' मन्त्र से अनुज्ञापन करे। क्योंकि, मन्त्र में अनुज्ञापन शक्ति होने के लक्षण मिलते हैं ॥४१॥ वेद मन्त्र ही उसका उत्तर देता है ॥४२॥ समवाय-सम्बन्ध होने से सोम-भक्षण का अनुज्ञापन एक पात्र में होता है ॥४३॥ वरण के समान याज्या का अपनयन होता है, भक्षण का नहीं ॥४४॥ अथवा यजमान को सोम भक्षण होना उचित है ॥४५॥ प्रवृत्ति होने से होता के वरणी होने का अपनय विधान नहीं है ॥४६॥ श्रुति संयोग से जाना जाता है कि क्षत्रिय और वैश्य के लिये बनाया गया फल चमस भक्षण के योग्य है ॥४७॥ फल चमस का संस्कार याग के लिये होने से, वह उसी के निमित्त है ॥४८॥ होम का कथन होने से यागार्थ है ॥४९॥ चमसों से फल चमस उठाने की समान विधि होने से भी ऐसा ही मानना चाहिये ॥५०॥ लक्षण पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है ॥५१॥ (समाधान) यजमान चमस का प्रतिभक्षण दश क्षत्रियों द्वारा होने से यजमान के लिये एक जातित्व कथन है ॥५२॥ केवल ब्राह्मण शब्द से उन्यास होने के कारण यजमान चमस के लिये अनुप्रसर्पणकर्त्ता क्षत्रिय नहीं, ब्राह्मण होना चाहिये ॥५३॥

॥ पंचम पाद समाप्त ॥

षष्ठ पाद

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥१॥
प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥२॥
तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते ॥३॥
दर्शनादिति चेत् ॥४॥

उत्पत्तिरिति चेन् ॥६॥
न तुल्यत्वात् ॥७॥
चोदनार्थकात्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः ॥८॥
प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥९॥
नैमित्तिकं तु, प्रकृतौ तद्विकारः, संयोगविशेषात् ॥१०॥

प्रकृति और विकृति दो यागों में स्रुवादि का विधान है, इसलिये, खैर-काष्ठ के यज्ञीय पात्र बनाने चाहिये। परन्तु, किसी पाठ में इसका वर्णन नहीं हुआ ॥१॥ (समाधान) दर्शपूर्णमास यागों में ही उनका सम्बन्ध होता है। ऐसा करने से द्विरुक्ति प्राप्त नहीं होती ॥२॥ (पूर्व पक्ष) अप्रकरण पठित के अतिरिक्त, विधिवत् प्रकृति याग में होने से प्रेरक वाक्य की प्रवृत्ति है ॥३॥ यदि कहें कि प्रकृति के धर्म देखे जाने से प्रेरक वाक्य में प्रवृत्ति सिद्ध होती है ॥४॥ (समाधान) प्रकृति और विकृति दोनों यागों में समान विधि होने से उक्त कथन ठीक नहीं ॥५॥ (शंका) यदि कहें कि विधि वाक्य द्वारा सब धर्मों का स्वाभाविक सम्बन्ध प्रकृति याग से ही है, विकृति याग से नहीं ॥६॥ (पूर्वपक्ष द्वारा समाधान) खदिरत्व धर्म प्रकृति और विकृति दोनों यागों में समान होने से उक्त कथन निरर्थक है ॥७॥ (उत्तर पक्ष) प्रकृति याग के लिये विधान है, विकृति याग के लिये नहीं। क्योंकि, प्रेरक वाक्य से सर्व धर्म-सम्बन्ध है और मुख्य विप्रतिषेध से दोनों का विधान करते हैं, इसमें दोष है ॥८॥ सामिधेनियों की पन्द्रह संख्या की प्रतिद्वन्द्वी सत्तरह संख्या विकृत यज्ञ में विहित है, प्रकरण विशेष से पन्द्रह संख्या आती है ॥९॥ वैश्य के निमित्त विहित सत्तरह सामिधेनियों के प्रकृति याग में होने से, वाक्य विशेष से पूर्व विहित पन्द्रह सामिधेनियाँ बाधक है ॥१०॥

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥११॥
न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१२॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः ॥१४॥
सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥१५॥
तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ॥१६॥
न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१७॥
तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥
स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१९॥
श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्थं ॥२०॥

प्रकरण में विधान होने से अग्न्याधान पवमान आदि इष्टियों का अङ्ग मानना चाहिये ॥११॥ (समाधान) वे इष्टियाँ आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कारार्थ होने से, उक्त कथन ठीक नहीं है ॥१२॥ लक्षण देखे जाने से भी यही सिद्ध होता है ॥१३॥ (पूर्व पक्ष) अप्रकरण पठित वाक्य आदि खदिर आदि के धर्म प्रकृति याग के लिये हैं, वैसे ही अग्नि का आधान भी प्रकृति याग के लिये है ॥१४॥ (उत्तर पक्ष) आधान का समय नियत होने से यह सिद्ध होता है कि अग्नि का आधान प्रकृति और विकृति दोनों के लिये है ॥१५॥ जैसे प्रयाज होम दर्शपूर्णमास याग से आहवनीय आदि अग्नि में होते हैं, वैसे ही पवमान इष्टियाँ उस अग्नि में होती हैं ॥१६॥ (समाधान) पवमान इष्टियाँ अग्नि संस्कारार्थ हैं, अतः पूर्वोक्त कथन प्रमणित नहीं होता ॥१७॥ प्रकरण की विशेषता से पशु-उद्देश्य वाली विधियाँ सब अग्नीषोमीय पशुओं के समान हैं ॥१८॥ (पूर्वपक्ष) उसकी सन्निधि में पाठ होने से वे धर्म अग्निषोमीय के होने सिद्ध होते हैं ॥१९॥ (तृतीय पूर्वपक्ष) सवनीय पशु के वे धर्म हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध शाखान्तर में मिलता है। उनका सौत्य दिवस से पहिले औपवसथ्य दिवस में सुना जाना गौण है ॥२०॥

तेनोत्कृष्टस्य कालवधिरिति चेत् ॥२१॥
नैकदेशत्वात् ॥२२॥
अर्थेनेति चेत् ॥२३॥

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥२४॥
स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥
अचोदना गुणार्थेन ॥२७॥
दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥२८॥
प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥२९॥
तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

(शंका) यदि कहें कि आश्विन वाक्य में उत्तर कृत्य सवनीय पशु का अनुष्ठान विहित है ? ॥२१॥ (समाधान) एक देशीय विधान से समुदाय को विहित बताने के कारण उक्त कथन ठीक नहीं ॥२२॥ (शंका) यदि कहें कि अर्थ से सभी ग्रहण है ? ॥२३॥ (समाधान) ऐसा मानने से श्रुति से विरोध होगा, इसलिये नहीं मान सकते ॥२४॥ (समाधान) वे धर्म अग्निषोम वाले पशु के हैं, इसमें सन्निधि रूप प्रमाण है और संस्कार मात्र का उक्त हेतु में होने से यह मान्यता ठीक है ॥२५॥ ऐसे ही लक्षण देखे जाते है ॥२६॥ अर्थवादी होने से दोनों वाक्य प्रेरक नहीं हैं ॥२७॥ (शंका) दर्श पौर्णमास याग में सुने शाखाहरण आदि दोनों समय दूध दुहने के धर्म नहीं है। क्योंकि उनमें काल का भेद है ॥२८॥ (समाधान) दूध दोहन का विधायक शास्त्र प्रातः सायं दोनों समय दोहन का विधान करता है और प्रकरण से भी दोनों का सम्बन्ध पाया जाता है ॥२९॥ दूध दोहन धर्म के समान ही ग्रह के धर्म का अनुष्ठान प्रातः सवन के पश्चात् होता है ॥३०॥

रशना च लिङ्गदर्शनात् ॥३१॥
आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ॥३२॥
संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥
निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ॥३४॥
अग्न्याधेयस्य नैमित्तिकं ... ॥३५॥

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमान विधानं स्यात् ॥३६॥
प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥
न तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥
अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥३९॥
नियमार्थां गुणश्रुतिः ॥४०॥

तथा रशनावेष्टन आदि भी अग्निषोम आदि पशु-धर्म होने के लक्षण देखे जाते हैं ॥३१॥ अप्रकरण होने से दोनों पात्रों का ऐन्द्रवाय-वादि ग्रह धर्मों से असंयोग है। क्योंकि, उसके समीप ग्रह धर्मों का विधान नहीं पाया जाता ॥३२॥ (समाधान) ग्रह मात्र के लिये विहित होने से सम्मार्जन आदि धर्मों का दोनों ग्रहों से सम्बन्ध होता है। सहधर्मों का विधान ग्रह मात्र के लिये करना चाहिये ॥३३॥ विहित वाक्यों से ग्रह मात्र से उक्त धर्मों के संयोग की व्यवस्था होती है ॥३४॥ 'अंशु' और 'अदाभ्य' के सम्मार्जनादि धर्म के समान अग्नि चयन प्रकरण में पठित अखण्डत्व आदि धर्म अप्रकरण पठित इष्टिकाओं के भी हैं ॥३५॥ सोम के समान न होने से फल चमस में सोमाभिषव आदि धर्मों का विधान नहीं है ॥३६॥ जैसे निमित्तक फल चमस अभिषव धर्म वाला नहीं होता, वैसे ही नीवार आदि भी प्रोक्षण धर्म वाला नहीं हो सकता ॥३७॥ (समा-धान) व्रीहि आदि के समान नीवार आदि के धर्म होते हैं और दोनों का याग सिद्ध होना समान रूप से मिलता हैं ॥३८॥ तथा अर्थापत्ति प्रमाण से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है ॥३९॥ प्रतिनिधि की विधायक श्रुतियाँ उक्त नियम के लिये है ॥४०॥

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥४१॥
व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥४२॥
विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥
अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥४४॥
वचनात्तु समुच्चयः ॥४५॥

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥४६॥
गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४७॥

दीक्षणीय आदि इष्टियाँ सात यज्ञों की अङ्ग हैं। क्योंकि, सबका प्रकरण समान मिलता है ॥४१॥ तथा सभी का उक्त यज्ञीय प्रकरण में समान रूप से कथन है ॥४२॥ उक्थ्यादि अग्निष्टोम के विकार हैं। क्योंकि, पशु आदि की कामना के सम्बन्ध से विधान मिलता है। इसलिये अग्निष्टोम के समान होने पर भी उनमे अङ्ग रूप से विधान नहीं हो सकता ॥४३॥ (समाधान) अथवा द्विरुक्ति होने से उक्त इष्टियाँ ज्योतिष्टोम की अङ्ग होंगी ॥४४॥ 'यद्यग्निष्टोम' आदि वचनों से अग्निष्टोम और उक्थ्य आदि का संकलन पाया जाता है ॥४५॥ तथा पूर्व हवनों का उक्थ्य आदि में निषेध होने से भी उस अथ की सिद्धि नहीं होती ॥४६॥ गुण की विशेषता से सात संस्थाओं द्वारा एक ही ज्योतिष्टोम का वर्णन हुआ है ॥४७॥

॥ षष्ठ पाद समाप्त ॥

सप्तम पाद

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥१॥
सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥२॥
आरादपीति चेत् ॥३॥
न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥
फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥६॥
चिकीर्षया च संयोगात् ॥७॥
तथाऽभिधानेन ॥८॥
तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वंचिकीर्षा स्यात् ॥९॥

गुणाऽभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ॥१०॥

वेदि आदि धर्म प्रधान यज्ञ के हैं,अंगों के नहीं। प्रकरण की विशेषता से यही सिद्ध होता है ॥१॥ (समाधान) वेदि का खनन आदि प्रधान तथा अंग के धर्म हैं। क्योंकि धर्म-धर्मी भाव का वाक्य से नियम है, प्रकरण से नहीं ॥ २ ॥ (शंका) यदि कहें कि प्रधान यज्ञ के साथ पढ़ा जाता है, इसलिये वेदि 'पिण्डपितृयाग' के भी होने चाहिये ? ॥ ३ ॥ (समाधान) वे वाक्य प्रधान और अंग दोनों के लिये ही वेदि आदि के विधायक हैं, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ॥ ४ ॥ इसी प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं ॥ ५ ॥ यजमान से सम्बन्धित संस्कार प्रधान यज्ञ के अंग हैं, क्योंकि, संस्कारों का सम्बन्ध फल से होता है ॥ ६ ॥ और 'सौमिकी' संज्ञा वाली वेदि प्रधान कर्म की अंग है, क्योंकि, इच्छाओं द्वारा उसका उसी से सम्बन्ध होना माना जाता है ॥ ७ ॥ (पूर्व पक्ष) सौमिकी' के प्रधान कर्म की अंग होने के समान 'अभिमर्शन' भी प्रधान आहुति का अंग है। उसका ऐसा ही वर्णन मिलता है ॥ ८ ॥ (समाधान) अंगयुक्त प्रधान में फल श्रवण मिलता है। इसलिये, अंग और प्रधान दोनों की इच्छा है ॥ ९ ॥ अभिमर्शन का विधान अंग और प्रधान दोनों के लिये है। उनमें पौर्णमासी और अमावस्या पद से काल कहा गया है, आहुति नहीं कही गयी ॥ १० ॥

दीक्षादक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य ॥११॥

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥१२॥

तथा यूपस्य वेदिः ॥१३॥

देशमात्रं वाऽशिष्टेनैकवाक्यत्वात् ॥१४॥

सामिधेनीस्तदन्वाहूरिति हविर्धानयोर्वचनात्सामिधेनीनाम् ॥१५॥

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥१६॥

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥१९॥
अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म के अंग हैं। ऐसा वचन पाया जाता है ॥ ११ ॥ तथा निरूढ पशुबन्ध संज्ञा वाले यज्ञ में दीक्षा के निवृत्त होने से यही मानना ठीक है ॥ १२ ॥ (पू. पक्ष) जैसे दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म के अंग कहे गये हैं, वैसे ही वेदि को भी यूप का अंग समझना चाहिये ॥ १३ ॥ (समाधान) अर्द्ध यन्त्र वेदि शब्द को देश मात्र का उपलक्षण समझना चाहिये। क्योंकि, अर्द्धबहिर्वेदि के साथ वही वाक्य प्रयुक्त हुआ है ॥ १४ ॥ सोम कूटा जाने वाला शकट सामधेनियों का अंग है, ऐसे वचन मिलते हैं ॥ १५ ॥ (समाधान) ज्योतिष्टोम याग का अंग कहा जाने से वह शकट अपने से सम्बन्धित देश-विशेष का उपलक्षण मात्र है ॥ १६ ॥ तथा शकट संज्ञक देश विशेष के उपलक्षण के समान हविर्धान को ज्योतिष्टोम का अंग कहना भी सार्थक है ॥१७॥ अग्निहोत्रादि कर्मों का फल अनुष्ठान करने वाले को मिलता है। क्योंकि शास्त्र में उसका उसी के लिये विधान किया गया है। इसलिये, उन अग्निहोत्रादि का स्वयं अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १८ ॥ (पू० प०) यजमान का मुख्यत्व दक्षिणा में अपेक्षित है, सर्वत्र नहीं। इसलिये दक्षिणा को छोड़ कर सभी अंगों का अनुष्ठाता यजमान से भिन्न ऋत्विज या स्वयं ही होता है ॥ १९ ॥ (समाधान) यजमान के सिवाय ऋत्विज भी शेष अंग कर्मों के अनुष्ठाता हैं। उन कर्मों के अनुष्ठान के लिए ऋत्विजों का परिक्रय कहा है। वह परिक्रय स्वयं में विरोधी होने से नहीं होता ॥ २० ॥

तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

अपि वा श्रुतिभेदात्प्रतिनामधेयं स्युः ॥२२॥

एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥२३॥
नोत्पत्तौ हि ॥२४॥
चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥२५॥
उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥२६॥
दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥२७॥
शमिता च शब्दभेदात् ॥२८॥
प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ॥२९॥
उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥३०॥

ऋत्विज् कितने हों, इसका नियम नहीं है, क्योंकि, उनका विधायक वाक्य नहीं मिलता। इसलिये अंग कर्मों के अनुष्ठान में उनकी संख्या अर्थानुसार होती है ॥ २१ ॥ (समाधान) प्रत्येक कर्म के अनुसार ज्योतिष्टोम में सत्तरह ऋत्विज होते हैं। श्रुति में उनके अलग-अलग नाम कहे गए हैं ॥ २२ ॥ (शंका) यदि कहें कि क्रिया भेद से एक ही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि अनेक नाम हैं ? ॥२३॥ (समाधान) वरण का विधान करने वाले वाक्य में सत्तरह ऋत्विजों का ही वरण करना कहा है ॥ २४ ॥ चमस अध्वर्यु आदि उन सत्तरह ऋत्विजों से भिन्न हैं, क्योंकि उनके पृथक् वरण का विधान मिलता है ॥ २५ ॥ (पू० प०) वरण वाक्य में बहुवचन से कहे जाने के कारण चमस अध्वर्यु अनेक समझने चाहिये ॥ २६ ॥ (समाधान) चमस अध्वर्यु दश हैं, क्योंकि लक्षणों से ऐसा ही सिद्ध है ॥ २७ ॥ (शंका) अध्वर्यु आदि सत्तरह ऋत्विजों से शमिता भिन्न है। क्योंकि उनसे नाम का भेद होना सिद्ध है ॥ २८ ॥ (समाधान) प्रकरण से जाना जाता है कि 'शमिता' भिन्न नहीं है। क्योंकि उसके भिन्न वरण सम्बन्धी वाक्य नहीं मिलता ॥ २९ ॥ तथा उपगाता भी अध्वर्यु आदि में ही है, क्योंकि, लक्षण प्रमाण से ऐसा ही जाना जाता है ॥ ३० ॥

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥३१॥

कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ।।३२।।
न वा परिसङ्ख्यानात् ।।३३।।
पक्षेणेति चेत् ।।३४।।
न सर्वेषामधिकारः ।।३५।।
नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ।।३६।।
उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ।।३७।।
स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ।।३८।।
ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ।।३९।।
तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थवत्त्वात् ।।४०।।

सोम विक्रय करने वाला ऋत्विजों से भिन्न होता है। क्योंकि सोम विक्रेता के लिए विधान नहीं है ।। ३१ ।। यज्ञ में भाग लेने वाले सभी कार्यकर्त्ता ऋत्विक् हैं। क्योंकि, वे सभी विहित कर्मों को समान रूप से करते हैं ।। ३२ ।। (समाधान) ऋत्विजों की संख्या सत्तरह ही बताई जाती है, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ।। ३३ ।। (शंका) यदि कहें कि उस वाक्य में सत्तरह का ग्रहण एक देशीय प्रयोजन के लिये है ? ।। ३४।। (समाधान) सबका अधिकार न कहा होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ।। ३५ ।। दक्षिणा वाक्य से सिद्ध होता है कि सत्तरह ऋत्विज् अध्वर्यु आदि के अतिरिक्त कोई नहीं है। क्योंकि दक्षिणा वाक्य में उनके नामों का संकेत है ।। ३६ ।। तथा सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान कहकर फिर अध्वर्यु आदि की दीक्षा का विधान किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है ।। ३७ ।। अध्वर्यु आदि में सत्तरहवाँ यजमान भी ऋत्विज् ही कहा गया है, क्योंकि उसका भी कर्म समान है ।। ३८ ।। अध्वर्यु आदि को यज्ञ सम्बन्धी सब कर्मों के करने का अधिकार है, क्योंकि वे प्रत्येक कार्य के लिये नियुक्त होते हैं और वे किसी भी अग्नि में कार्य कर सकते हैं ।। ३९ ।। (समाधान) किस ऋत्विज् को क्या कर्म करना है, इसकी

व्यवस्था है। क्योंकि, उसके साथ 'आध्वर्यवम्' आदि समाख्या का सार्थक संयोग मिलता है॥ ४० ॥

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥४१॥
तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥४२॥
प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥४३॥
पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥४४॥
प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥४५॥
चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥४६॥
अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥४७॥
चमसे चान्यदर्शनात् ॥४८॥
अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥४९॥
वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥५०॥
तद्गुणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥५१॥

कहीं-कहीं विशेष वचन द्वारा उस-उस कर्म के करने का नियम मिलता है॥ ४१ ॥ तथा पहिले के समान लक्षण मिलने से भी यही सिद्ध होता है॥ ४२ ॥ सभी प्रैष एवं अनुवचन मैत्रावरुण के लिये कर्त्तव्य हैं। ऐसा उपदेश मिलता है॥ ४३ ॥ (समाधान) मैत्रावरुण का अधिकार प्रैष सहित अनुवचन में है सब में ऐसा विधान नहीं मिलता ॥ ४४ ॥ अनुवचन रूप प्रातः पठित अनुवाक में होता का सम्बन्ध देखा जाने से भी यही प्रतीत होता है॥ ४५ ॥ (शंका) चमसाध्वर्यु समाख्या से सिद्ध होता है कि चमसहोम चमसाध्वर्यु का कर्त्तव्य है ?॥ ४६॥ (समाधान) न्याय से सिद्ध होता है कि चमस होम का कर्त्ता अध्वर्यु ही है॥ ४७ ॥ तथा चमस होम में अन्य का सम्बन्ध देखा जाने से भी यह मान्यता ठीक समझनी चाहिये ॥ ४ ॥ यदि अध्वर्यु होम करने में समर्थ न हो तो चमसाध्वर्यु को होम करने का अधिकार मिलता है॥४९॥

पूर्व अधिकरण के समान चमस होमकर्त्ता अध्वर्यु ही कहा जाता है, वैसे ही विभिन्न कर्मों का विधि के अनुसार अनष्ठान करना चाहिये ॥५०॥ अथवा अपने सामर्थ्य के अनुसार अंगों सहित वेद का ग्रहण होने से स्व-धर्म निर्णय होता है। व्याकरणादि अंगों के बिना, धर्म का निश्चय होना संभव नहीं है ॥ ५१ ॥

॥ सप्तम पाद समाप्त ॥

अष्टम पाद

स्वामिकर्मपरिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥१॥
वचनादितरेषां स्यात् ॥२॥
संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्व्यतिष्ठेरन् ॥३॥
याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥४॥
व्यपदेशाच्च ॥५॥
गुणत्वेन तस्य निर्देशः ॥६॥
चोदनां प्रति भावाच्च ॥७॥
अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥८॥
तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥९॥
वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥१०॥

यजमान के निमित्त यज्ञ होता है। इसलिये यजमान को ऋत्विजों का वरण करना चाहिये ॥ १ ॥ यजमान के कहने से अध्वर्यु आदि के द्वारा भी उनका वरण किया जा सकता है ॥ २ ॥ अनुष्ठान के अनुकूल 'वपन' आदि संस्कारों की, आध्वर्यवादि कर्म के समान ही वेदानुकूल व्यवस्था करे ॥ ३ ॥ (समाधान) जैसे यजमान का प्रधान कर्म होने से कर्म को 'याजमान' कहते हैं, वैसे ही केश,वपन आदि संस्कार भी उसी के हैं। क्योंकि फल का भोगने वाला होने से वही प्रधान है ॥ ४ ॥ तथा

क्षौर कर्म सम्बन्धी तैल मर्दन, स्नानादि से भी उक्त कथन सिद्ध होता है ॥ ५ ॥ यजमान का धर्म होने से ही वपन आदि की क्रिया उचित मानी जा सकती है ॥ ६ ॥ जिसके लिये विधान हो उसके लिये संस्कार कर्म का सद्भाव होने से उक्त कथन ठीक बनता है ॥ ७ ॥ वपन आदि संस्कार केवल यजमान के लिये हैं, इसलिये उसे यजमान और अध्वर्यु दोनों को समान रूप से मानना ठीक नहीं है ॥ ८ ॥ तप भी फल सिद्धि का कारण होता है, इसलिये वपन आदि के समान तप भी यजमान का कर्म है ॥ ९ ॥ तथा लोक में देखा जाने के समान ही वाक्य शेष भी उक्त अर्थ को सिद्ध करता है ॥ १० ॥

वचनादितरेषां स्यात् ॥११॥
गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥
तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥१३॥
व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥१४॥
मन्त्राश्चाऽकर्मकरणास्तद्वत् ॥१५॥
विप्रयोगे च दर्शनात् ॥१६॥
द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्याऽर्थवत्त्वात् ॥१७॥
ज्ञाते च वाचनं; न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥
याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः ॥१९॥
अध्वर्युर्वा तदर्थो हि; न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

वाक्य-विशेष से ऋत्विजों का कर्म भी तप माना गया है ॥११॥ तथा वेद द्वारा तप कर्म आदि की व्यवस्था नहीं । क्योंकि वह कर्म सबका नहीं, गौण है ॥ १२ ॥ जैसे तप यजमान का कर्म है, वैसे ही फल की इच्छा भी यजमान ही करें, क्योंकि फल का योग उसी के लिये है ॥ १३ ॥ ऋत्विज् भी उक्त कामना करते हैं, यह वाक्य से सिद्ध होता है ॥ १४ ॥ जिन मन्त्रों में आहुति आदि क्रियात्मक नहीं, यजमान अपनी कामना का फल पाने के लिये उनका पाठ करे ॥ १५ ॥ और

अन्य देश में प्रवास करने पर भी प्रार्थना का विधान मिलने से उक्त कथन पुष्ट होता है ।। १६ ।। जिन मन्त्रों का दो बार पाठ किया जाता हो, उनका पाठ भी यजमान और अध्वर्यु दोनों को करना चाहिये । क्योंकि इनके दो बार पाठ से सार्थकता होती है ।। १७ ।। मंत्रार्थ का जानने वाला यजमान ही यज्ञ में पठनीय मन्त्र पढ़े । क्योंकि, मन्त्रार्थ का न जानने वाला यजमान इसके योग्य नहीं होता ।। १८ ।। द्वन्द्व संज्ञक बारहों कर्म यजमान करे । क्योंकि यजमान सम्बन्धी प्रकरण में उनका कथन मिलता है ।। १९ ।। (समाधान) अध्वर्यु को द्वादश कर्म कर्त्तव्य हैं । क्योंकि, उनका अध्वर्यु के लिये उपक्रम किया गया है । यजमान काण्ड में उनका कहा जाना उचित ही है ।। २० ।।

विप्रतिषेधे करणः, समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां, यतो विशेषः स्यात् ।।२१।।
प्रैषेषु च पराधिकारात् ।।२२।।
अध्वर्युस्तु दर्शनात् ।।२३।।
गौणो वा कर्मसामान्यात् ।।२४।।
ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ।।२५।।
स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ।।२६।।
लिङ्गदर्शनाच्च ।।२७।।
कर्मार्थं तु फलं; तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ।।२८।।
व्यपदेशाच्च ।।२९।।
द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ।।३०।।

विरोध होने पर होता उन कर्मों को करे या अध्वर्यु द्वारा अनुष्ठित कर्म होता करे । क्योंकि, उसका उसी से सम्बन्ध है । अन्य कर्म मैत्रावरुण संज्ञक ऋत्विज् का कर्तव्य है । क्योंकि इसमें होता की समीपता का विशेष योग कहा गया है ।।२१।। प्रेषकर्त्ता और प्रेषणकर्त्ता में भेद है । क्योंकि उसका विधान अलग से है ।।२२।। उस प्रैष का करने

वाला अध्वर्यु है, क्योंकि ऐसा भेद देखा जाता है ।।२३।। (समाधान) अध्वर्यु में कर्म पाया जाने से, उस वाक्य में अध्वर्यु शब्द गौण समझना चाहिये ।।२४।। अध्वर्यु ऋत्विज के लिये फल की प्रार्थना करे, यह उचित ही हैं । यही सार्थक माना गया है ।।२५।। (समाधान) यजमान के लिये यज्ञ होने से, यजमान ही उसका भोक्ता है । इसलिये यज्ञ के फल की प्रार्थना भी यजमान के लिये होती है ।।२६।। इसी प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं ।।२७।। 'करण' मन्त्र में ऋत्विजों ने अपने लिये फल की प्रार्थना की है, वह यजमान के कर्म की वृद्धि के लिये है । उस वृद्धि में यजमान का फल निहित है ।।२८।। तथा अध्वर्यु और यजमान दोनों में फल की समान रूप से प्रार्थना भी पायी जाती है ।।२९।। द्रव्यों के संस्कार रूप धर्म सब कर्मों के निमित्त हैं । क्योंकि प्रकरण से उनका अविशेष सम्बन्ध देखा जाता ।।३०।।

निर्देशात्तु विकृतापूर्वस्याऽनाधकार: ।।३१।।
विरोधे च श्रुति विशेषादव्यक्तः शेषे ।।३२।।
अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ।।३३।।
विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ।।३४।।
मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ।।३५।।
सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ।।३६।।
आधानेऽपि तथेति चेत् ।।३७।।
नाऽप्रकरणत्वादङ्गस्यातन्निमित्तत्वात् ।।३८।।
तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ।।३९।।
सर्वेषां वाऽविशेषात् ।।४०।।
न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ।।४१।।
मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ।।४२।।
भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ।।४३।।
स्यात्प्रकृतिलिङ्गाद्वै राजवत् ।।४४।।

विकृति-याग में बर्हि आदि के धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि, उस विकृति में उनके कार्य का विधान मिलता है ।।३१।। त्रिधृति और पवित्रे में असंस्कृत बर्हि का विनियोग है। यदि संस्कृत और असंस्कृत दोनों का विनियोग मान लें तो वाक्य विशेष से विरोध सिद्ध होगा ।।३२।। प्राकृत पुरोडाश का एक देशीय निश्चय अपनय होने योग्य है। क्योंकि, ऐसा होने पर विद्यमान का संयोग होता है ।।३३।। प्रकृति याग के समान विकृति याग में विधान किया गया उपांशु रूप अङ्ग और प्रधान इष्टियों के निमित्त है ।।३४।। (समाधान) अङ्ग का वह धर्म विधान नहीं किया जाने से उपांशु धर्म का विधान प्रधान के लिये है ।।३५।। श्येन-याग में आज्य द्रव्य का होना सम्भव न होने से विधान किया गया घृत, उस याग के अङ्गभूत इष्टियों का धर्म कहा है। क्योंकि उसका याग के साथ विशेष सम्बन्ध होता है ।।३६।। (शंका) जैसे, मक्खन घृत श्येन-याग के अंगों का धर्म कहा है. वैसे ही अग्न्याधान का भी धर्म है, यदि ऐसा कहें तो ? ।।३७।। (समाधान) नवनीताज्य उसके लिये न होने से अग्न्याधान का प्रकरण नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त कथन मान्य नहीं ।।३ ।। (पूर्वपक्ष) वह आज्य सुत्यादिन में होने वाली इष्टियों का अंग है। ऐसे ही लक्षण मिलते हैं ।।३९।। (समाधान) वह आज्य श्येन याग के सभी अंगों का धर्म है। क्योंकि उसका विधान सामान्य रूप से है ।।४०।। प्रकरण में आया 'नवनीत' वाक्य सम्पूर्ण अंग का होना सिद्ध करता है। क्योंकि, ऐसे ही लक्षण मिलते हैं ।।४१।। सवनीय पुरोडाशों का मांसल प्रकृति द्रव्य है। क्योंकि द्रव्य विधायक वाक्यों से ऐसा ही सिद्ध होता है ।।४२।। (शंका) अन्य पद की समीपता न होने से मांस पद का मांसल अर्थ मानना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहें तो ? ।।४३।। (समाधान) जैसे 'वैराज' को बताने वाले साम शब्द की समीपता से वैराज-पृष्ठ के वाचक हो जाते हैं, वैसे ही सवनीय आदि शब्द के सामीप्य से मांस शब्द भी मांसल हो सकता है ।।४४।।

[इस अध्याय में मुख्य रूप से इस बात का विवेचन किया है कि यज्ञ की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में किसका कितना महत्व है, कौन-सा दर्जा है ? वैसे तो उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक क्रिया का यथाविधि सम्पन्न किया जाना आवश्यक है, फिर भी बड़े यज्ञों में परि-स्थिति वश ऐसी समस्याएँ आया करती हैं जबकि किसी को शीघ्र और किसी को देर से करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी दृष्टि से मीमांसाकार ने जिन क्रियाओं के विषय में साधारण ऋत्विजों, कर्मकाण्ड कराने वाले पंडितों को शंका रहती है, उनके विषय में तर्क और शास्त्र-प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक प्रकरण में किस क्रिया को मुख्य और किसको गौण माना जाय—किसको 'शेष' का तथा किसको 'शेषी' वतलाया जाय। इसका विवेचन करते हुये वहुसंख्यक अन्तर्गत विषयों पर भी प्रकाश पड़ा है जिनसे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिये चौथे पाद में यजमान की पत्नी के यज्ञ में भाग लेने का वर्णन है और वताया है कि यदि वह यज्ञ-काल में रजस्वला हो जाय तो क्या व्यवस्था करनी चाहिये। इससे विदित होता है कि उस युग में सामान्यतः स्त्रियाँ यज्ञ में भाग लेती थीं और सब प्रकार की क्रियाएँ पति के साथ ही करती थीं। इस बात से वर्तमान समय के उन लोगों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जो कहते है कि स्त्रियों को वैदिक कर्मों के करने अथवा यज्ञादि में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

एक सूत्र में यह भी कहा गया है कि प्रजा को सदुपदेश देकर सुमार्ग पर चलाने वाले विद्वानों, पंडितों को राज्य-दण्ड और उत्पीड़न आदि के भय से मुक्त रखना चाहिये, जिससे वे प्रजा शिक्षण का कार्य ठीक ढंग से कर सकें। इससे यह प्रकट होता है कि यज्ञ का बाह्य-स्वरूप धार्मिक होते हुये भी उसका आन्तरिक उद्देश्य प्रजा में सदाचरण, सुव्यवस्था और शान्ति का प्रसार करना भी होता था। यज्ञों में राजा अथवा बड़े धनवान लोग जो बहुत बड़ी धन-राशि खर्च करते थे, वह किसी न किसी रूप में प्रजा से ही प्राप्त की जाती थी, यदि प्रजा सुखी, समृद्ध, सन्तुष्ट न

रहेगी तो यज्ञादि का निर्विघ्न और सब प्रकार से सफलता के वातावरण में सम्पन्न होना कठिन हो जायगा। इस दृष्टि से प्रजा में सुव्यवस्था और सन्तोष का ध्यान रखना उचित ही है।

अष्टम पाद के सूत्र, ९, १०, ११ में एक महत्वपूर्ण बात यह कही गई है कि यज्ञ-कर्म केवल धन व्यय करने से ही सिद्ध नहीं होता वरन् उसके लिए कुछ तप, कष्ट-सहन, श्रम भी करना आवश्यक है। धन तो मनुष्य को उत्तराधिकार में अथवा किसी गढ़े हुये खजाने के मिल जाने से भी प्राप्त हो जाता है। उसे खर्च करके ही पुण्य मिल जाय यह बात उपयुक्त नहीं जान पड़ती। इसलिए धर्म-शास्त्र में यज्ञकर्त्ता के लिए दो दिन या तीन दिन तक उपवास करने और बाद में भी बहुत संयमपूर्वक अल्पाहार का विधान किया है। यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों के लिए भी नियम बनाया गया है कि वे रात्रि के समय भोजन न करें अर्थात् दिन-भर में एक समय ही खायं। इसका उद्देश्य यही है कि यज्ञ-काल में शरीर शुद्ध और हल्का रहे और उसके प्रभाव से मन में भी किसी प्रकार की असद् भावनायें उदित न हों। यदि खान-पान में असावधानी बरती जायगी, स्वादिष्ट और तर माल अधिक मात्रा में खा लिये जायेंगे तो उससे आलस्य और प्रमाद का होना तो स्वाभाविक ही है, साथ ही चित्त-वृत्तियों का चंचल होना तथा तरह-तरह की कुकल्पनाओं का उठना भी संभव है। आजकल यज्ञादि में ऐसे दृश्य प्रायः देखने में आते भी हैं जब कि यज्ञ कराने वाले पंडितगण मुफ्त का बढ़िया भोजन पाकर आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं, और अनेक बार इसके फलस्वरूप उसी समय या बाद में बीमार पड़ जाते हैं। इसलिए मीमांसाकार ने पहले ही इस सम्बन्ध में उपदेश देकर इस अवसर पर संयम और तप की मनोवृत्ति रखना आवश्यक बता दिया है।

सप्तम पाद के अन्तिम सूत्र में जो निर्देश दिया है उससे विदित होता है कि यज्ञ-कर्म कराने वालों को अध्ययनशील तथा ज्ञानवान होना चाहिये। केवल ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से किसी को यज्ञ करने

कराने का अधिकारी नहीं मान लिया जा सकता। यज्ञ वास्तव में सर्व-साधारण का हित साधन करने वाली एक प्रणाली है, इसलिये इसका उचित रीति से सम्पादन वे ही लोग कर सकते हैं जिन्होंने धार्मिक तथा लौकिक विद्याओं का भली प्रकार अनुशीलन किया हो और जो हृदय से लोक-कल्याण के महत्व का अनुभव करते हों। पुस्तक में से केवल मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' कर देने को ही वास्तविक यज्ञ समझ लेना भूल की बात है। जो व्यक्ति यज्ञ के मूल तत्व-लोकहित अथवा जन-कल्याण को नहीं समझ पाता या उसकी उपेक्षा करता है, वह यज्ञ कराने का अधिकारी भी नहीं हो सकता।

षष्ठ पाद के ३८—३९ सूत्रों में यह विवेचन किया गया है कि यदि धर्म-शास्त्र में लिखी हुई यज्ञ-सामग्री प्राप्त न हो सके तो उससे मिलती-जुलती पर कुछ घटिया वस्तु से भी काम चलाया जा सकता है। इससे मीमांसकार की व्यवहारिकता प्रकट होती है और यह विदित होता है कि जो लोग सामग्री अथवा अन्य उपकरणों के बढिया तथा बहुमूल्य होने पर बहुत अधिक बल देते हैं उनका दृष्टिकोण ठीक नहीं है। सामग्री के मिलने न मिलने में एक कारण तो देश-भेद होता है। एक स्थान में एक वस्तु अधिक मात्रा में और सुलभता से मिलती है और दूसरे स्थान में उसी के सदृश्य पर कुछ भिन्नता रखने वाली वस्तु सुविधापूर्वक प्राप्त होती है। अब मान लीजिये कि धर्मग्रन्थ लिखने वाले या भाष्यकार ने अपने प्रदेश में सुविधापूर्वक प्राप्त होने वाली वस्तु का उल्लेख कर दिया, तो यह आवश्यक नहीं कि हम दूसरे प्रदेश में यज्ञ करते समय ठीक उसी वस्तु को लाने का आग्रह करें। ऐसा करना शक्ति और धन का अपव्यय ही माना जायगा। इसलिये मीमांसा के मत से ऐसे प्रसंगों में अनावश्यक हठ या कट्टरता का परिचय न देकर व्यवहारिकता का ध्यान रखना ही आवश्यक है और मूल-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये कार्य-संचालन करना ही उचित है।

तृतीय अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

[तीसरे अध्याय में इस बात पर विचार किया गया था कि कौन कर्म शेष है और कौन उसका शेषी-कर्म है। अब चौथे अध्याय में अन्य दृष्टि कोण से वर्णन किया जा रहा है कि यज्ञ सम्बन्धी कर्मों में "कौन प्रयोजक और कौन प्रयोज्य है।" दूसरे शब्दों में कौन कर्म निमित्त है और कौन नैमित्तिक। इसमें सबसे पहले यागार्थ और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।]

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥१॥

यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा, ऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥२॥

तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय; शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते; तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥३॥

अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥४॥

अपि वा कारणाऽग्रहणे तदर्थमर्थस्याऽनभिसम्बन्धात् ॥५॥

तथा च लोकभूतेषु ॥६॥

द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थक्यात् प्रदीयरेन् ॥७॥

स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुति स्युः ॥८॥

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥९॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

अब क्रतर्थ और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में विचार करते हैं क्योंकि वह कर्मों के प्रयोज्य-प्रयोजक भाव का ज्ञान कराता है ॥ १ ॥ जिस कर्म से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है और जिसे करने की इच्छा स्वयं ही होती है वह पुरुषार्थ है। सुख का साधन कर्म से पृथक नहीं है ॥ २ ॥ सुख का विचार त्याग देने पर भी कर्म को जानना चाहिये क्योंकि चाहे वे याग की दृष्टि से आवश्यक न हों और क्रतर्थ न माने जायें, तो भी पुरुषार्थ के रूप में उनका उपयोग है ॥ ३ ॥ शंका हो सकती है कि तब समिधादि कर्म भी 'पुरुषार्थ' होने चाहिये क्योंकि उनका शास्त्र भी प्रजापति-व्रत संज्ञक है ॥ ४॥ किसी प्रमाण के न मिलने से उक्त प्रजापति संज्ञक कर्म पुरुषार्थ माने गये हैं। प्रमाणाभाव से उनका किसी प्रधान कर्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ ऐसी ही मान्यता सब लोगों में पाई जाती है ॥ ६ ॥ शंका है कि सब द्रव्य—यज्ञायुध भी पूर्णतः अग्नि में हवन करने चाहिये। ऐसा न करने से विधान व्यर्थ हो जायगा ॥७॥ इसका समाधान करते हुये कहते है कि यज्ञीय द्रव्यों का अपने-अपने कार्य के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। उनका विनियोग शास्त्रीय विधान के अनुसार किया जाय ॥ ८ ॥ हवन विधि के लिये पुरोडाश आदि का विधान किया गया है ॥ ९ ॥ चिन्हों, लक्षणों से भी यही अर्थ ठीक जान पड़ता है ॥ १० ॥

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥११॥
एकश्रुतित्वाच्च ॥१२॥
प्रतीयत इति चेत् ॥१३॥
नाऽशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत् ॥१४॥
शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि दृश्यते यस्य ज्ञानं हि यथाऽन्येषाम् ॥१५॥
तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥१६॥
तथा च लिङ्गम् ॥१७॥

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत् ॥१८॥
चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यन्येन विधीयते ॥१९॥

स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतत्वाऽऽश्रयाद्धिगुणीभावः ॥२०॥

यज्ञ में दान दिये जाने वाले पशुओं में एक या अधिक संख्या होने का विचार आवश्यक नहीं है ॥ ११ ॥ कहा जाता है कि श्रुतियों में प्रायः एक संख्या में ही पशु-दान का वर्णन है यद्यपि शास्त्रों में जो विधान पाया जाता है जैसे "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—इसमें एक या अनेक की संख्या का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तो भी, लौकिक और न्याय की दृष्टि से इसे एक पशु के अर्थ में ही मानना ठीक है। यही अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि सुन्दर कानों वाली, केसर के समान रूप वाली तथा आकाश के सदृश्य वर्ण वाली गायें साँड सहित दान करे ॥ १२–१६ ॥ साथ ही शास्त्रों में जो पशुओं के दान का आदेश दिया है उसका आशय गायों के दान से ही है, बैलों का अर्थ उससे नहीं लेना चाहिये ॥१७॥ अब "स्विष्टकृत" कर्म की अदृष्टार्थता का वर्णन करते हुये कहते हैं कि प्रधान आहुतियों के पश्चात् स्विष्टकृत कर्म के रूप में शेष आहुति दी जाती है वह भी याग के समान शास्त्रीय कर्म हो ॥१ ॥ कुछ लोग शंका करते हैं कि स्विष्टकृत कर्म प्रधान कर्म का एक अंश ही है और उसका पृथक रूप से फल प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १९ ॥ इस पर मीमांसा का मत है कि स्विष्टकृत, संस्कार की पूर्ति का अंग होने के साथ ही पृथक फलोत्पादक भी है ॥ २० ॥

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ॥२१॥
एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥२२॥
संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥२३॥

मुख्यशब्दा भिसंस्तत्राच्च ॥२४॥

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥२५॥
अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥
पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम् ॥२७॥
एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ वित्तमान संयोगात् ॥२८॥
निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥२९॥
न शेषसन्निधानात् ॥३०॥

अब फल की प्राप्ति के अर्थ द्रव्य तथा कर्म की समता और विषमता का विवेचन किया जाता है ॥ २१ ॥ एक कर्म गर्म दूध में दही डालकर उसके ठोस अंश (आमिक्षा या छेना) और जलीय अंश को पृथक-पृथक कर लेना है। इस में आमिक्षा ही प्रधान है, जलीय अंश तो अपने आप उत्पन्न हो जाता है। यह आमिक्षा ही विश्व देवताओं को समर्पित किया जाता है ॥ २२–२४ ॥ सोम को खरीदने के लिये गौ ले जाते हुये "पद-कर्म" गौण है ॥ २५ ॥ यज्ञ के लिये जिन कपालों (मिट्टी के ठीकरे आदि) में पुरोडाश पकाये जाँय फिर उनमें छिलकों की राख आदि को भर दे। इसी प्रकार दान के लिये लाये गये पशु को खिलाने के लिये लाल रङ्ग की घास को छोटे टुकड़ों में काट कर रखे। ये दोनों कर्म मुख्य नहीं अनुषंगिक हैं ॥ २६–२७ ॥ स्विष्टकृत कर्म में पुरोडाश के एक भाग को काट कर जो कर्म किया जाता है उसमें स्विष्टकृत कर्म प्रधान नहीं है। इस पर शंका की जाती है कि अर्थापत्ति प्रमाण से किसी अन्य पुरोडाश की कल्पना होती है। पर मीमांसाकार इसे ठीक नहीं मानते,क्योंकि वे स्विष्टकृत कर्म को शेष हानि से सम्बन्धित मानते हैं जिससे उसके लिये पृथक पुरोडाश की आवश्यकता स्वीकार नहीं की जा सकती ॥ २८–३० ॥

कर्म कार्यात् ॥३१॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥३२॥

अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् ।।३३।।
न वा पात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ।।३४।।
हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ।।३५।।
अभावदर्शनाच्च ।।३६।।
सति सव्यवचनम् ।।३७।।
न तस्येति चेत् ।।३८।।
स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ।।३९।।
समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ।।४०।।

पुरोडाश मुख्य कर्म के लिये ही प्रस्तुत किया जाता है। शास्त्र में भी इसी बात का कथन किया गया है।३१—३२। प्रश्न किया जाता है कि क्या यज्ञ में प्राजापत्य हवियों के लिए 'जुहू' से पृथक अन्य घृत-पात्र रखने का विधान है ।। ३३ ।। इसका उत्तर दिया जाता है प्रयाज का एक अंश होने के ही कारण उसके लिये पृथक पात्र की आवश्यकता नहीं ।। ३४ ।। साथ ही क्रतु पशु तथा प्राजापत्य पशुओं को एक साथ पुण्य का देने वाला कथन करने से उन दोनों की एकता सिद्ध होती है ।। ३५ ।। इस प्रकार प्राजापत्य पशु सम्बन्धी हवियों के अभिधारण का कहीं उल्लेख नहीं मिलता और सव्य कथन किया है, इससे भी उनके अभिधारण की बात सिद्ध नहीं होती। सव्य-वचन अभिधारण का भाव का सूचक नहीं हो सकता। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि प्रयाज शेष से अभिधारण नहीं होता ।। ३६—३९ ।। इसके आगे 'उपभृत' और 'जुहू' संज्ञक स्रुवाओं से 'आज्य' (घृत) ग्रहण करने के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं ।। ४० ।।

वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् ।।४१।।
तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ।।४२।।
तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ।।४३।
औपभृतं तथेति चेत् ।।४४।।
स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ।।४५।।

तदष्टसङ्ख्यं श्रवणात् ॥४६॥
अनुग्रहाच्च जौहवस्य ॥४७॥
द्वयोस्तु हेतुसमार्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥४८॥

इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्ति यह शंका करते हैं कि 'उपभृत' और 'जुहू' स्रुवाओं में उपस्थित आज्य के विनियोग का कोई विधान नहीं है और उनको सुविधानुसार किसी भी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके समाधान में यह है कि 'जौहव' आज्य प्रयाजों के लिये है और औपभृत प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिए ॥ ४१—४४ ॥ इस पर कुछ आशंका करते हैं कि जिस प्रकार "जौहव" प्रयाजों के लिये हैं वैसे अप-भृत को केवल अनुयाजों के लिये क्यों न माना जाय ? ॥ ४५ ॥ पर यह ठीक नहीं, क्योंकि 'जौहव' के वर्णन में जिस प्रकार अनुयाजों का निषेध कर दिया गया है वैसा निषेध औपभृत के सम्बन्ध में नहीं पाया जाता ॥ ४६ ॥ जुहू से चार बार और उपभृत से आठ बार आज्य ग्रहण करने का विधान है। कुछ लोग इसे 'चार बार का दुगुना' कहते हैं। यद्यपि इन दोनों का तात्पर्य एक ही है, पर श्रुति के शब्द और अर्थ को बदलना अनुचित होने से 'आठ बार' ही कहना उचित है ॥ ४७—४८ ॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

[इस द्वितीय पाद में यज्ञ में दान के लिए लाये गये पशुओं को बाँधने के लिए यूप-निर्माण का वर्णन आरम्भ होता है। जङ्गल से यूप बनाने के लिए जो काष्ठ लाया जाता है उसे छीलने से जो छिलका, छीलन आदि निकलती है उसको 'स्वरु' कहते हैं। जो इस पाद के आरम्भ में प्रति पक्षी की तरफ से यह शंका की जाती है कि 'स्वरु' यूप बनाते समय स्वयम् ही उत्पन्न हो जाने वाला एक गौण पदार्थ है, या वह भी यूप की तरह एक स्वतन्त्र और मुख्य द्रव्य है और उसके लिए भी अलग काष्ठ

लाने का विधान है ? इस सम्बन्ध में पहले प्रतिपक्षी की शंका को प्रकट करते हैं—]

स्वरुस्त्वनेकानिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥१॥
जात्यन्तराच्च शङ्कते ॥२॥
तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३॥
शकलश्रुतेश्च ॥४॥
प्रतियूपं च दर्शनात ॥५॥
आदाने करोति शब्दः ॥६॥
शाखायां तत्प्रधानत्वात ॥७॥
शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यात ॥८॥

श्रुत्यपायाच्च ॥९॥
हरणे जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ॥१०॥

क्योंकि 'स्वरु' यूप-निर्माण की क्रिया से भिन्न क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है अतः उसका विधान स्वतन्त्र मानना चाहिए ॥ १ ॥ स्वरु उसी जाति की लकड़ी से बनाया जाय जिससे यूप बनाया जाय ॥ २ ॥ इसके उत्तर में 'मीमांसा' का कहना है कि 'स्वरु' यूप का एक अंश ही होता है, अतः उसका स्वतन्त्र स्थान मानना निरर्थक है। उसके लिए अलग लकड़ी लाने की कोई आवश्यकता नहीं। 'स्वरु' तो यूप बनाते समय स्वयं ही निकल आता है और पशुओं का 'अंजन' संस्कार करने के काम आता है। जितने भी यूप बनाये जायेंगे उन सभी से 'स्वरु' निष्पन्न होने का कथन है, इससे उसकी प्रधानता सिद्ध नहीं होती ॥ ३—५ ॥ 'यूपस्य स्वरु करोति' वाक्य में जो 'करोति' शब्द आया है उसका अर्थ यह नहीं कि 'स्वरु' बनाना हमारा उद्देश और मुख्य कार्य है, उसका अर्थ है 'आदान' अर्थात् स्वयं ही प्राप्त हो जाना ॥ ६ ॥ वृक्ष की शाखाओं को

भी विधि पूर्वक लाये । इन शाखाओं के मूल अथवा मोटे हिस्से से यज्ञ-शाला में काम आने वाले विभिन्न उपकरण बनाये जायें और छोटी डालियाँ बछड़ों को हाँकने के काम में लाई जायें । श्रुति में भी ऐसा ही भाव प्रकट किया गया है ॥ ७–९ ॥ वृक्ष की छोटी शाखाओं को प्रस्तर सहित आहवनीय अग्नि में डाला जाय ॥ १० ॥

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥११॥
अर्थेऽपीति चेत् ॥१२॥
न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥१३॥
उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ॥१४॥
संयवनार्थानां या प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥१५॥
प्रासनवन्मैत्रावरुणस्य दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥१६॥
अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्स्रग्वत् ॥१७॥
कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥१८॥
उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तच्छ्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तर-गमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥
सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥२०॥

इस सम्बन्ध में यह शंका की जाय कि शाखा का डालना 'प्रतिपत्ति कर्म' है या 'अर्थ कर्म' तो कहा जायगा कि वह 'प्रतिपत्ति कर्म' ही है । शंका करने वाले द्वितीया विभक्ति के कारण इसे 'अर्थ कर्म' मानते हैं, पर यह विनियोग की दृष्टि से सत्य सिद्ध नहीं होता ॥ ११–१३ ॥ यज्ञ में कुछ जल छान कर 'प्रणीता' नामक पात्र में रखा जाता है । उसे पुरोडाश बनाने के आटे को सानने के लिए प्रयोग में लाया जाता है । शेष जल को वेदी पर छिड़क दिया जाता है । प्रतिपक्षी इस छिड़कने को अर्थ-कर्म बतलाते हैं, पर मीमांसाकार इसे प्रतिपत्ति कर्म मानते हैं, क्योंकि मुख्य उद्देश्य आटा सानना है, वेदी पर छिड़कना नहीं ॥ १४–१५ ॥ ज्योतिष्टोम में अध्वर्यु यजमान को दण्ड देता है । उसे सोम का

मूल्य दे दिया जाने पर मैत्रावरुण नामक ऋत्विक को दे देना चाहिए। शंका करने वाले का कहना है कि यह दण्ड प्रदान करने का कर्म 'अर्थ-कर्म' (प्रधान) नहीं है वरन 'प्रतिपत्ति कर्म' है। पर मीमांसाकार का कहना है कि जिस प्रकार उद्गाता को माला देना 'अर्थ-कर्म' है उसी प्रकार 'मैत्रावरुण' को दण्ड का दान भी 'अर्थ कर्म' ही है। अन्य स्थानों में भी मैत्रावरुण का वर्णन इस दण्ड के सहित ही किया गया है जिससे उक्त अर्थ सिद्ध होता है॥ १६–१८॥ जिस पदार्थ का अन्य अर्थ में विनियोग हो तो वह प्रतिपत्ति रूप ही है॥ १९॥ ज्योतिष्टोम याग में सोम लिप्त पात्रों को 'अवभृथ' में ले जाय, यह भी 'प्रतिपत्ति कर्म' है॥ २०॥

अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ॥२१॥
प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ॥२२॥
कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥२३॥
नियमार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२४॥
तथा द्रव्येषु; गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥२५॥
संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥२६॥
यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ॥२७॥
तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ॥२८॥
ददातिरुत्सर्गपूर्वकः परस्वत्वेन सम्बन्धः ॥२९॥
विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥३०॥
अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्व-हेतुः स्यात् ॥३१॥

प्रतिपक्षी इसे अर्थ-कर्म कहते हैं, क्योंकि उनके मत से 'अवभृथ' का आशय यज्ञ से ही है। पर 'मीमांसा' का कहना है 'अवभृथ' का आशय देश विशेष अथवा किसी विशेष स्थान से है॥ २१–२२॥ अब कर्ता, देश तथा काल सम्बन्धी नियमों पर विचार करते हैं। प्रतिपक्षी

कहता है कि इनका निर्णय कर्मानुष्ठान में स्वयं ही हो जाता है इसलिये शास्त्र में विस्तार सहित इसका विवरण नहीं पाया जाता। दर्शनकार इसे मानता हुआ भी कहता है कि इस विषय का स्वयं निर्णय हो जाने पर भी नियम की दृष्टि की जानकारी के लिये विधान में इसका उल्लेख होना उचित ही है ॥ २३–२४ ॥ जैसे कर्ता आदि का विधान नियम की जानकारी की दृष्टि से उपयोगी है वैसे ही गुण का विधान भी नियम की दृष्टि से ही है ॥ २५ ॥ अवघात आदि संस्कारों में भी, नियम की ही प्रधानता माननी चाहिये ॥ २६ ॥ 'याग' शब्द का तात्पर्य द्रव्य (सामग्री) देवता तथा क्रिया इन तीनों का समुदाय है। परमात्मा के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग का नाम ही "याग" है ॥ २७ ॥ जिस प्रकार परमात्मा के उद्देश्य से द्रव्य की आहुति देने को याग कहते हैं वैसे ही विना किसी उद्देश्य के अथवा किसी निम्न कोटि के देवता के नाम पर अग्नि में द्रव्य का त्याग करना होम है ॥ २८ ॥ सोम को यज्ञशाला में लाने पर 'बर्हि' नामक वनस्पति द्वारा उसकी जो 'इष्ट' की जाती है, क्या वह भिन्न भिन्न हवनों में भिन्न-भिन्न वनस्पतियों द्वारा की जानी चाहिये ? इस शंका के उपस्थित होने पर मीमांसा का कथन है कि भिन्न-भिन्न वनस्पतियों का प्रयोग अनावश्यक है, बर्हि का ही तीनों के साथ सम्बन्ध होना चाहिये ॥ २९–३१ ॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥१॥

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥२॥

फलं तु तत्प्रधानायाम् ॥३॥

नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्यत्स्यात् ॥४॥

एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ॥५॥
शेष इति चेत् ॥६॥
नार्थपृथक्त्वात् ॥७॥
द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥८॥
पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत ॥९॥
चोदनायां फलाश्रुतेः; कर्ममात्रं विधीयेत; न ह्यशब्दं
प्रतीयते ॥१०॥

दूसरे पाद में यज्ञ के प्रधान और गौण कर्मों की विवेचना करके तथा कई कर्मों का उदाहरण देकर अब द्रव्य, संस्कार तथा अङ्ग कर्मों का यज्ञार्थ वर्णन करते है। इस सम्बन्ध में मीमांसा का मत है कि ये तीन 'क्रत्वर्थ' हैं पुरुषार्थ नहीं ॥१॥ इसका जो वर्णन किया गया है उसमें फल का सम्बन्ध पुरुष से न होकर द्रव्य से पाया जाता है ॥२॥ समस्त यज्ञक्रिया द्रव्य-साध्य हैं और क्रिया के अनुकूल फल मिलता है, इसलिये द्रव्य, संस्कार और क्रिया तीनों की प्रधानता मानी जाती है ॥३॥ मिट्टी के पात्रों का प्रयोग काम्य कर्मों में विहित है, नित्य कर्मों में उनका उपयोग करने का विधान नहीं है ॥४॥ दही आदि पदार्थ नित्य और और नैमि-त्तिक दोनों प्रकार के कर्मों के लिये काम में लाये जाते हैं। यदि इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाय कि दही एक कर्म का शेष है, इससे उसका प्रयोग दोनों प्रकार के कर्मों में नहीं किया जा सकता, तो इसका समाधान यह है कि इस प्रकार दधि का प्रयोग ही विभिन्न प्रयोजनों से बताया गया है, इसलिये उसका दोनों में विनियोग होना अनुचित नहीं है ॥५-७॥ ज्योतिष्टोम में ब्राह्मणों के लिये पयोव्रत (दूधाहार), क्षत्रिय के लिये जौ की लपसी का भोजन, वैश्य के लिये आमिक्षा (दूध की फुटकी) या छेना के भोजन का विधान है। यद्यपि ये व्रत पुरुषों के भोजन से सम्बन्धित है, पर उनका उद्देश्य यही है कि पुरुष सशक्त रहकर यज्ञ को पूर्ण कर सके, इसलिये ये क्रत्वर्थ हैं ॥८॥ इनमें पुरुष का जो उल्लेख है

वह व्यवस्था की दृष्टि से है ॥९॥ विश्वजित याग का वर्णन पढ़कर यह शंका होती है कि उसमें कहीं फल का उल्लेख नहीं हैं, अतएव वह 'अफल' कर्म है ॥१०॥

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानामर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोप्यसमर्थानामानन्तर्येप्यसम्बन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशस्सः ॥११॥
वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥१२॥
तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥१३॥
एकं वा चोदनैकत्वात् ॥१४॥
स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१५॥
प्रत्ययाच्च ॥१६॥
क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः ॥१७॥
फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥१८॥
अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥१९॥
काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो, यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः ॥२०॥

इसके उत्तर में मीमांसा का कथन है कि यज्ञ-कर्म की विवेचना करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में समस्त वैदिक विधान सम्बन्धी वचन सफल अर्थयुक्त ही पाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि कोई वाक्य फल सहित वर्णन न किया हो तो भी उसके अर्थ के आधार पर फल की कल्पना स्वयमेव की जा सकती है ॥११॥ यदि इस प्रकार 'विश्वजित' यज्ञ के फल की कल्पना न की जायगी तो वह वाक्य एक गुण का विधायक बन जायगा। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं उक्त यज्ञ अपने नामानुसार सब फलों का देने वाला है। पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य से किसी एक ही फल के होने का अनुमान हो सकता है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार अन्य सब याग प्रधानतया स्वर्ग-फल देने वाले हैं वैसे ही विश्वजित याग भी स्वर्ग-फल प्रदायक है ॥१२-१५॥ याग करने वाले

मनुष्य भी प्राय: स्वर्ग-फल उद्देश्य से ही उनका अनुष्ठान करते हैं, इस लिये विश्वजित याग का फल स्वर्ग प्राप्ति होना सर्वथा समुचित है ॥१६॥ "त्रयोदशरात्र" नामक सत्र का फल प्रतिष्ठा-प्राप्ति लिखा है, पर कार्ष्णाजिनि मुनि के मत से यह अर्थवाद (प्रशंसात्मक) वाक्य ही है ॥१७॥ यह मत उचित नहीं है, क्योंकि जब वेद-वाक्य में फल का स्पष्ट उल्लेख है तो उसे मानना ही चाहिये। इस प्रकार के प्रसङ्ग में विश्वजित याग की तरह अपनी कल्पना से काम लेने की कोई आवश्यकता नहीं ॥१८॥ जुहू आदि यज्ञ-उपकरणों का फल-वर्णन अर्थवाद (स्तुति रूप) हो सकता है, क्योंकि वे एक 'अङ्गी' के अङ्गमात्र हैं ॥१९॥ अब काम्य-कर्मों के फल के विषय में कहते हैं कि उनका मुख्य फल भी स्वर्ग होना सम्भव है ॥२०॥

वीते च कारणे नियमात् ॥२१॥
कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥२२॥
अङ्गे गुणत्वात् ॥२३॥
वीते च नियमस्तदर्थम् ॥२४॥
सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥२५॥
फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ॥२६॥
तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥२७॥
योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगात् ॥२८॥
समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥२९॥
कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥३०॥

यदि जिस कामना से याग किया जा रहा है वह बीच में ही पूर्ण हो जाय तो भी उस अनुष्ठान को समाप्ति तक किया जाता है, इससे भी प्रतीत होता है कि काम्य-कर्म का मुख्य फल स्वर्ग ही है ॥२१॥ पर यह ठीक नहीं, काम्य-कर्म के विधान में उसका जो फल बतलाया गया है उसका मुख्य फल तो वहीं माना जायगा। स्वर्ग प्राप्ति उसका गौण फल

हो सकता है। और जो यह कहा गया है कि अनुष्ठान के मध्य में ही कामना पूरी हो जाने पर भी यज्ञ-कर्म का अन्तिम विधि तक निर्वाह किया जाता है, उसका कारण प्रतिज्ञा-पालन का भाव है, अर्थात् जब हमने एक वार किसी यज्ञ का संकल्प कर लिया तो उसे पूरा करना कर्तव्य है ॥२२-२४॥ यज्ञ-विधान में बतलाया है कि "दर्शपूर्ण मास" यज्ञ सब फलों के लिये हैं। इसमें शंका होती है कि दर्शपौर्णमास याग स्वयमेव सब फल प्राप्त कराने वाला नहीं है वरन् उसके साथ जो अन्य कर्म अंग रूप किये जाते हैं उनको मिला कर सब फलों की प्राप्ति होती है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि जब शास्त्र में दर्शपौर्णमास को सब फलों का देने वाला स्पष्टतः कथन किया है तो उससे विपरीत नहीं हो सकता ॥२५-२६॥ दूसरी शङ्का यह है कि जब 'दर्शपौर्णमास' याग सब फलों के देने वाला है तो उसके एक बार के अनुष्ठान से ही सब प्रकार के फलों की प्राप्ति हो जानी सम्भव है, जैसे आग जलाने से गर्मी और प्रकाश एक साथ ही मिल जाते हैं। पर मीमांसाकार के मत से यह ठीक नहीं। "दर्शपौर्णमास" सब फलों के देने वाला है, पर जिस फल के उद्देश्य से उसका अनुष्ठान किया गया है वही फल प्राप्त होगा। विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति के लिये पृथक-पृथक अनुष्ठान ही विधेय है ॥२७-२८॥ अब सौत्रामणी आदि यागों के अंगभूत कर्मों की विधि के सम्बन्ध में कहते हैं कि अङ्गाङ्गिभाव को जानने से ही वे कर्म सार्थक हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है कि ये साथ में किये जाने वाले कर्म अंगागि रूप नहीं, पर कालक्रम से आगे-पीछे किये जाने वाले कर्म भी हो सकते हैं। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं ॥२९-३०॥

नासमवायात्प्रयोजनेन ॥३१॥
उभयार्थमिति चेत् ॥३२॥
न शब्दैकत्वात् ॥३३॥
प्रकरणादिति चेत् ॥३४॥

नोत्पत्तिसंयोगात् ॥३५॥
अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्वन्धात् ॥३६॥
उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥३७॥
फलसंयोगस्त्वचोदिते, न स्यादशेषभूतत्वात् ॥३८॥
अङ्गानां तूपघातसंयोगे निमित्तार्थः ॥३९॥
प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ॥४०॥
अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात्स्वकाले स्यात् ॥४१॥

यह तर्क इसलिये ठीक नहीं कि स्वतन्त्र कर्म का फल भी पृथक होता है, जबकि अंग रूप कर्म अफल होता है। इसलिये उक्त कर्मों को अंग और अङ्गी के रूप में ही मानना चाहिये ॥३१॥ "दर्शपौर्णमास" याग के विधान में पौर्णमास याग को समाप्त करके 'वैमृध' नामक कर्म करने का आदेश हैं। इस पर शङ्का की जाती है कि वह 'दर्श' अनुष्ठान का अङ्ग है या "पौर्णमास" का। शङ्का करने वाला उसे दोनों का ही अङ्ग बतलाता है। पर मीमांसाकार का मत है कि एक कर्म एक साथ दो अनुष्ठानों का अङ्ग नहीं हो सकता, इसलिये उसे 'पौर्णमास' कर्म का ही अंग मानना चाहिये ॥३२-३५॥ ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में कहा गया है कि "अग्निमारुत" शस्त्र के पश्चात् 'प्रयाज' नामक होम करे। यहाँ पर प्रश्न होता है कि यह 'प्रयाज' होम "अग्निमारुत" का एक अंग रूप है अथवा कालक्रम से किया जाने वाला अन्य विधान है। इसका समाधान यह है कि 'प्रयाज' होम ज्योतिष्टोम याग एक अंग माना गया है उसका वैदिक वर्णन में स्पष्ट विधान है। तब उसे "अग्नि-मारुत" का अंग न मान कर कालक्रम से किया जाने वाला एक कर्म ही मानना चाहिये ॥३६॥ "दर्शपूर्णमास" याग के अनन्तर 'ज्योतिष्टोम' याग का विधान पाया जाता है उसके सम्बन्ध में शङ्का की जाती है कि इनको एक दूसरे का अंग रूप मानें या दोनों को स्वतन्त्र माना जाय ?

इसका उत्तर है कि इन दोनों का फ़ल पृथक-पृथक मिलता है इससे इनको अंग रूप न मानकर स्वतन्त्र याग ही मानना उचित है। दोनों का एक साथ वर्णन करने का कारण यह है कि "दर्शपूर्णमास" के पश्चात् 'ज्योतिष्टोम' का अनुष्ठान करने से दोनों का महान फल प्राप्त होता है ॥३७॥ पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् जो "वैश्वानरेष्टि" नामक कर्म किया जाता है उसके सम्बन्ध में शङ्का की जाती है कि उसका फल पिता को मिलेगा या पुत्र को ? इसका उत्तर यह है कि पुत्र के उद्देश्य से कर्म किया गया है अतः उसी को फल मिलेगा यह कर्म 'जातकर्म' संस्कार से सम्बन्धित है ॥३८-३९॥ एक शङ्का यह भी है कि अंग रूप कर्मों का अनुष्ठान प्रधान काल में होना चाहिये अथवा मुख्य अनुष्ठान के पश्चात् ? इसका समाधान यह है कि अंग रूप कर्मों का अनुष्ठान अपने-अपने नियत कालों में किया जाना चाहिये ॥४०-४१॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥१॥
अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततोविशिष्टत्वात् ॥२॥
मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥३॥
सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥४॥
प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥५॥
अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ॥६॥
फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥७॥
दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥८॥
नित्यश्च ज्येष्ठशब्दत्वात् ॥९॥

सार्वरूप्याच्च ॥१०॥

नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः; कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वा-च्चान्तरायस्य ॥११॥

अब राजसूय यज्ञ में 'देवन' (तोपखाने की कवायद) के सम्बन्ध में शङ्का की जाती है कि वह 'राजसूय याग' का अंग है या नहीं ? इस सम्बन्ध में मीमांसा का मत है कि 'देवन' आदि को याग रूप नहीं माना जा सकता और वे "राजसूय" याग का एक अंग ही हैं ॥१-२॥ फिर शङ्का की गई कि इन क्रियाओं का वर्णन अभिषेक के अवसर पर ही मिलता है। अतः इनको केवल अभिषेचनीय क्रिया का अंग ही माना जाय अथवा "राजसूय" का ? इसका उत्तर यह है कि "अभिषेचनीय" कोइ पृथक अनुष्ठान नहीं है, वरन् ये सब एक "राजसूय" अनुष्ठान के ही अंग रूप है ॥३-४॥ फिर प्रश्न किया गया कि सौम्य आदि हवियों को उपसदों का अंग मानना ही उचित है। परस्पर में विरुद्धता होने के कारण एक ही विषय में अंग-रूपता और तत्कालता दोनों बातें नहीं मानी जा सकतीं। इसके समाधान में कहा गया है कि सौम्य आदि हवियों में कालक्रम का ही अन्तर है क्योंकि उपसदों के साथ अंगांगि होने की कोई विशेषता उनमें नहीं मिलती ॥५-६॥ फलयुक्त "संग्रहणी" इष्ट 'अमन' होमों में प्रधान है और 'अमन' होम गौण होने से उसका अंग है ॥७॥ याग-कर्म में व्यवधान के कारण किसी देवता के कुपित होने पर जो "दधिग्रह" क्रिया की जाती है प्रतिपक्षी के मतानुसार वह नित्य नहीं नैमित्तिक है, क्योंकि उसका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर ही किया जाता है। दूसरी शंका यह भी है कि दधिग्रह को तो सब ग्रहों में ज्येष्ठ माना गया है इससे उसको नित्य मानना चाहिये। फिर यह सब देवताओं का स्वरूप है, इससे इसे नित्य मानना ठीक है। इन दोनों मतों का समाधान करते हुये मीमांसाकार ने कहा है कि याग-क्रिया में व्यवधान पड़ने की बात अर्थवाद (स्तुति रूप) है। अध्वर्यु तथा यज-मान से इस कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं होता। दधिग्रह नित्य और नैमित्तिक उभयरूप न होकर सदैव नित्य ही है ॥८-११॥

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसङ्ख्यत्वात् ॥१२॥
पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ॥१३॥
षट्चितिः पूर्ववत्स्यात् ॥१४॥
ताभिश्च तुल्यसंख्यानात् ॥१५॥
अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१६॥
एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥१७॥
विप्रतिषेधात्ताभिः समानसङ्ख्यत्वम् ॥१८॥
पितृयज्ञः स्वकालत्वानङ्गं स्यात् ॥१९॥
तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ॥२०॥
विप्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥२१॥

पूर्वपक्ष का कथन है कि 'वैश्वानर' इष्ट निष्ट नित्य-कर्म है, क्योंकि अन्य नित्य कर्मों के साथ उसका समान भाव से वर्णन किया गया है ॥१२॥ इसके उत्तर में कहा गया है कि यह कर्म नित्य नहीं नैमित्तिक है। इस सम्बन्ध में विधायक वाक्य से यही भाव प्रकट होता है ॥१३॥ शङ्का है कि छठी 'चिति' पूर्व पाँच चितों की भाँति नित्य है क्योंकि उसका वर्णन भी पिछली पाँच 'चितियों' के समान ही पाया जाता है। अर्थवाद के उत्पन्न होने से भी यही आशय प्रतीत होता है। पर मीमांसा इसका निराकरण करके कहता है कि पाँच 'चितियाँ' शास्त्रानुसार नित्य हैं, पर छठी को नैमित्तिक कहा गया है, इसलिये उसे वैसा ही मानना चाहिये ॥१४-१८॥ पितृ-यज्ञ दर्श-यज्ञ का अंग नहीं है वरन् काल की भिन्नता से वह एक स्वतन्त्र कर्म है। उसका उल्लेख "दर्शपूर्णमास" आदि के समान किया गया है और अमावस्या को अन्य यज्ञ का निषेध होने पर भी पितृ-यज्ञ का विधान है, इससे उक्त तथ्य की सिद्धि होती है ॥१९-२१॥

पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ॥२२॥
यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥२३॥

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२४॥
स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥२५॥
निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥२६॥
पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात् ॥२७॥
भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥२८॥
दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥२९॥
अपि वाङ्गानि कानिचिद्येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः; सामान्यादभिसंस्तवः ॥३०॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

वह रस्सी जिससे पशु को यूप से बाँधा जाता है यूप का अंग है अथवा पशु का यह एक प्रश्न है ? पूर्व पक्ष उसे पशु का अंग बतलाता है क्योंकि वह उसी को बाँधने को आती है। पर मीमांसा कहता कि उस रस्सी का संस्कार यूप के साथ होता है इसलिये वह यूप का ही अंग है। अर्थवाद की दृष्टि से भी रस्सी यूप का ही अंग सिद्ध होती है ॥२२-२४॥ 'स्वरु' यूप का अंग है, क्योंकि वह उसी का एक अंश है। उसे यूप का निष्क्रिय (छीलन) बतलाया है इससे भी यही सिद्ध होता है। इस पर मीमांसा 'स्वरु' को पशु का अंग बतलाता है, क्योंकि वह पशु के 'अंजन' कर्म में उपयोग में आता है। और यूप का अंश होने पर भी उसके लिये वह किसी दृष्टि से उपयोगी नहीं ॥२५-२८॥ पूर्व पक्ष कहता है कि दर्श तथा पौर्णमास याग में जितने याग हैं वे सब प्रधान है, क्योंकि उनकी विधान समान रूप से पाया जाता है। इसका समाधान यह है कि उन यागों में 'आधार' आदि ऐसे कर्म भी है जो अंग रूप है। विकृत यागों में प्रयाजों का कथन होने से भी आधारादि अंग रूप सिद्ध होते हैं ॥२९-३१॥

अवशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥३२॥
नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥३३॥
पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च,

तत्पुनर्मुख्यलक्षणं, यत्फलवत्त्वं, तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्-गंस्याद्, भागित्वात् कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः ॥३४॥
गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते, नाङ्गेषूपपद्यन्ते ॥३५॥
तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाभिसम्बन्धैः ॥३६॥
उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥३७॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥
ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥
गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात्कारणश्रुतिस्तस्मात्सोमः प्रधानं स्यात् ॥४०॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४१॥

इस पर शङ्का की जाती है कि यदि अर्थवाद (स्तुति) के कारण 'आघार' को अङ्ग रूप माना जाय तो 'आग्नेय' याग की भी वैसी ही स्तुति पाई जाती है। तब उसको भी अङ्ग रूप मानना चाहिये। इसका समाधान करते हुये मीमांसाकार कहते हैं कि विकृत यागों में 'प्रयाजों' का विधान नहीं मिलता। केवल छः यागों के दो त्रिकों में दर्श और पौर्णमास का नाम आता है, अन्यत्र उनका उल्लेख नहीं है। श्रुति और व्यपदेश से भी उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है। वे त्रिक ही प्रधान याग हैं और उन्हीं का फल कथन किया है। उन यागों के साथ जो अन्य याग सहकारी याग के रूप में किये जाते हैं और जिनका कोई फल कथन नहीं किया गया वे अङ्ग रूप माने जाने चाहिये। 'आघार' का भी कोई पृथक फल सुनने में नहीं आता, अतः वह भी प्रधान याग के साथ अङ्ग रूप माना जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'दर्शपूर्णमास' के जो गुण विधान में है वे आघार आदि के नहीं हो सकते ॥३२-३५॥ इस पर शङ्का की जाती है कि जिस प्रकार आघार आदि को अङ्ग कथन करने वाले वाक्य हैं उसी प्रकार आग्नेय आदि को प्रधान यागों का अङ्ग रूप मानने का कथन भी श्रुति में पाया जाता है। इसका समाधान यह है

कि जीव मात्र की उत्पत्ति की दृष्टि से आग्नेय आदि को यज्ञ के सिर की उपमा दी गई है। उसका अभिप्राय अङ्ग या अश होना नहीं मानना चाहिये। अङ्गता का स्पष्ट उल्लेख 'आधार' आदि के लिये ही पाया जाता है ॥३६-३७॥ दर्श और पौर्णमास यागों में आहुतियों की जो संख्या बताई गई है उससे भी यह आशय प्रकट होता है ॥३८॥ ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत जो अन्य याग किये जाते हैं उनका समानता के रूप में वर्णन किया गया है, अतः उनको समान रूप में प्रधान मानना चाहिये ॥३९॥ इसका निराकरण करते हुये मीमांसा कहता है कि 'ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत होने वाले सोम-याग से उसका जो सम्बन्ध है उसके आधार पर उसे प्रधान माना जाना चाहिये पर 'दक्षिणीय' आदि अङ्ग स्वरूप याग ही माने जाते हैं। श्रुति में भी 'दक्षिणीय' का अङ्ग रूप से ही वर्णन पाया जाता है ॥४०-४१॥

[इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य यज्ञ-सम्बन्धी प्रयोजक और प्रयोज्य विषयों का विवेचन करना है। प्रत्येक कर्म में कौन मुख्य है और कौन उसका अङ्ग या साधन रूप है इस विषय पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया गया है और छोटी-छोटी बातों का भी निर्णय तर्कों और प्रमाणों द्वारा किया गया है। इससे विदित होता है कि उस समय में यज्ञ-विधि बहुत विस्तृत और पेचीदा हो गई थी और उसकी क्रियाओं के सम्बन्ध में पण्डितों अथवा कार्य-कर्ताओं में मतभेद उत्पन्न होता रहता था। महर्षि जैमिनि ने मतभेद के आधार पर उत्पन्न इसी प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये इस अध्याय में प्रयत्न किया है। इसमें उन्होंने प्रत्येक विषय में पूर्व पक्ष द्वारा उठाई गई शङ्काओं का प्रथम कथन करके तत्पश्चात् श्रुति के प्रमाणों से उसका ठीक रूप प्रतिपादित किया है। उन्होंने यहाँ तक विचार किया है कि यज्ञ में पशुओं को बाँधने के लिये जो लकड़ी के 'यूप' बनाये जाते हैं उनका वक्कल तथा छीलन ही यज्ञ में 'स्वरु' के रूप में ग्रहण किया जाय अथवा उसे अन्य प्रकार की लकड़ी लाकर भी प्रस्तुत किया जा सकता है? पशुओं को बाँधने की रस्सी का

सम्बन्ध यूप से माना जाय या पशु से ? 'प्रणीता' नामक यज्ञीय-जलपात्र में शेष जल को वेदी पर छिड़कना मुख्य कर्म है या सहायक कर्म है ? मिट्टी के बर्तनों का नित्य कर्म में उपयोग किया जाय या नहीं ? कौन कर्म और द्रव्य नित्य हैं तथा कौन नैमित्तिक ? एक प्रकार के यज्ञ में जो कई प्रकार के अङ्ग-स्वरूप संस्कार, क्रियाएँ तथा उपकर्म होते हैं उनमें से किसको मुख्य और किसको गौण माना जाय ?

मीमांसा-दर्शन में इस सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है उससे प्रकट होता है कि उस युग में यज्ञ-याग ही सबसे मुख्य और सर्वत्र प्रचलित सामाजिक कार्य और उत्सव माने जाते थे। उनका उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति तो माना ही जाता था, पर सम्भवतः सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव भी उनके आधार पर ही प्राप्त होता था। इसीलिये स्थान-स्थान पर उनके लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के लाभों का उल्लेख किया गया है। जैसे आजकल विवाह, यज्ञोपवीत, मुण्डन और दाह-संस्कार में भिन्न-भिन्न स्थानों की प्रथाओं और क्रियाओं में कई प्रकार का अन्तर दिखाई पड़ता है और पुराने तथा नये विचार के लोगों द्वारा की गई व्यवस्था, सजावट तथा सामग्री में भी बहुत कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार की अवस्था उस समय भी उपस्थित होगई होगी और उन क्रियाओं के कराने वाले पण्डित तथा यज्ञ कराने वालों में अनेक विषयों पर मतभेद पैदा होता रहता होगा। इसलिये महर्षि जैमिनि ने मीमांसा-दर्शन द्वारा इस बात का उद्योग किया कि इन विषयों का स्पष्टीकरण करके एक ऐसी सर्वमान्य तथा देशव्यापी पद्धति निश्चित कर दी जाय जिससे यज्ञ-कार्य में किसी प्रकार का मतभेद और व्याघात उत्पन्न न हो। यद्यपि समय और परिस्थितियों के बदल जाने से आज हमको इन अनुषंगिक विषयों की महत्ता अनुभव नहीं होती, पर उस समय इनकी आवश्यकता अनुभव की जाती थी और इसी से महर्षि जैमिनि ने प्रत्येक क्रिया के यथातथ्य रूप का निर्णय करने का प्रयत्न किया है।]

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

पंचम अध्याय

प्रथम पाद

[चौथे अध्याय में यज्ञीय कर्मो के 'प्रयोज्य-प्रयोजक' भाव का वर्णन किया गया है। अब पाँचवें अध्याय में यज्ञ सम्बन्धी विविध कर्मों के क्रम पर विचार किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रुति के वाक्य ही सबसे मुख्य प्रमाण हैं। जहाँ कोई विशेष स्थिति हो वहाँ वाक्यों के आन्तरिक आशय का अनुसार भी निर्णय किया जा सकता है। तात्पर्य यही है कि विविध कर्मों को क्रम से करने पर ही इष्ट फल की प्राप्ति सम्भव होती है।]

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥१॥
अर्थाच्च ॥२॥
अनियमोऽन्यत्र ॥३॥
क्रमेण वा नियम्येत, क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥४॥
अशाब्द इति चेत्स्याद्वाक्य शब्दत्वात् ॥५॥
अर्थकृते चाऽनुमानं स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थत्वात्स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धस्तस्मात्स्वशब्दमुच्यते ॥६॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७॥
प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥८॥
सर्वमिति चेत् ॥९॥
नाकृतत्वात् ॥१०॥

श्रुति में प्रतिपादित यज्ञ-विधान में विभिन्न कर्मों का जो क्रम नियत कर दिया गया है, वही प्रधान है। पर कहीं-कहीं वाक्यों के मूल आशय को समझकर स्वाभाविक क्रम अपनाया जा सकता है। जैसे विधान में पहले लिखा है कि 'अग्निहोत्र किया जाय।" और फिर लिखा है कि

"यज्ञार्थं लपसी पकावे।" अब यहाँ पर लपसी पकाने का आदेश दूसरे नम्बर पर दिया गया है, पर बिना लपसी के प्रस्तुत हुये अग्निहोत्र हो ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ कार्य की व्यवस्था को ध्यान में रखकर क्रम निश्चित करना चाहिये ॥१-२॥ जहाँ इन दोनों का अभाव हो वहाँ अपनी समझ से जिसे ठीक समझा जाय उसी को पहले कर लिया जाय ॥३॥ यज्ञ में 'प्रयाजों' के अनुष्ठान में क्रम और नियम रखना चाहिये ॥४॥ इसमें शङ्का है कि पाठक्रम का ज्ञान शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। वाक्य या शब्दों से पदार्थों का ही बोध हो सकता है। इसका समाधान है कि क्रम शब्दों द्वारा नियन्त्रित नहीं है तो भी याग-क्रिया में अङ्गों की प्रधानता की दृष्टि से क्रम का पालन करना ही ठीक है ॥५-६॥ पाठक्रम के जो बाधक अर्थ लिखे हुये मिलते हैं उनसे भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है ॥७॥ इसी तरह पशु संस्कारों में भी एक के पश्चात् दूसरे का क्रम जानना चाहिये ॥८॥ शङ्का है कि उक्त संस्कार सब पशुओं के एक साथ क्यों न किये जायें। इसका समाधान है कि श्रुति में ऐसा विधान नहीं पाया जाता है ॥९-१०॥

क्रत्वन्तरवदिति चेत् ॥११॥
नासमवायात् ॥१२॥
स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥
मुख्यक्रमेण वाङ्गानां तदर्थत्वात् ॥१४॥
प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत् ॥१५॥
मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपसामर्थ्यात्तस्मादुत्पत्तिदेशः सः ॥१६॥
तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ॥१७॥
विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ॥१८॥
विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ॥१९॥
अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥२०॥

पुनः शंका की जाती है कि जैसे 'सौर्य' आदि यागानुष्ठान में सत्र संस्कार एक साथ होते हैं वैसे ही पशुओं में क्यों न किये जायें? समाधान है कि पशुओं का दान एक साथ न किया जाकर अलग-अलग होता है, इसलिये उनका संस्कार भी एक-एक करके क्रम से होना ठीक है ।।११-१२।। कहीं क्रम का ज्ञान स्थान के अनुसार भी होता है ।।१३।। इसलिये मुख्य-याग में कर्मों का जो क्रम नियत हो उसके अंगों में भी उसी क्रम के अनुसार कार्य करना चाहिये ।।१४।। 'पौर्णमास' याग में मुख्य-क्रम के स्थान पर अंगों का अनुष्ठान पाठक्रम के अनुसार करना चाहिये, क्योंकि उसके सम्बन्ध में उस प्रकार का स्पष्ट विधान मिलता है ।।१५।। यदि कर्मों के क्रम के सम्बन्ध में वेद मंत्रों तथा ब्राह्मण ग्रंथों में किसी प्रकार का विरोध दिखाई दे तो उस अवस्था में 'ब्राह्मण ग्रंथों' के बजाय मंत्र-पाठ को प्रधानता देनी चाहिये ।।१६।। प्रतिपक्षी कहता है कि विकृत-याग के क्रमानुसार ही होना चाहिये । इसका उत्तर है कि यदि दोनों प्रकार के क्रमों में कहीं विरोध दिखाई दे उसे प्रकृति क्रमानुसार ही करना चाहिये ।।१७-१८।। शंका है कि आग्नेय आदि तीनों विकृति—यागों के लिये उतना ही समय लगाना चाहिये जितना साकमेध आदि प्रकृति यागों में लगाया जाता है, क्योंकि विकृति यागों में प्रकृति यागों का आधार ग्रहण करना चाहिये ।।१९।। इसका समाधान है कि उक्त तीनों याग जिन समयों में लिखे हैं उन्हीं में करने चाहिये । प्रकृति याग कालों में ही उन्हें किया जाय ऐसी बात नहीं कही गई है ।।२०।।

कालोत्कर्ष इति चेत् ।।२१।।
न तत्सम्बन्धात् ।।२२।।
अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तम् उत्कर्षे स्यात् ।।२३।।
तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ।।२४।।
प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ।।२५।।
शब्दविप्रतिषेधाच्च ।।२६।।
असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत ।।२७।।

प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ।।२८।।
तथाऽपूर्वम् ।।२९।।

सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वैगुण्यात् ।।३०।।

फिर शंका है कि इन कालों का आशय आगामी दिन के उन्हीं कालों से भी लगाया जा सकता है, तो इसका उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है, इन प्रातःकाल आदि कालों का उसी एक ही दिन से सम्बन्ध है ।।२१-२२।। पूर्वपक्ष का कथन है कि 'ज्योतिष्टोम' याग के 'अनुयाज' और 'प्रयाज' दोनों में जैसे दिन बढ़ाया और घटाया जाता है वैसा ही होना चाहिये। इससे प्रधान याग के अंगों को अपने-अपने काल का लाभ मिल जाता है ? इसका उत्तर है कि इन अंगों को जिस क्रम से करना कहा गया है उसी प्रकार होना चाहिये। काल का ध्यान रखकर यदि उस क्रम में अन्तर कर दिया जायगा तो अनुष्ठान का उद्देश्य ही नष्ट हो सकता है ।।२३-२४।। जिन प्रोक्षणादि कर्मों का अनुष्ठान काल ज्ञात होता है उनका प्रथम अनुष्ठान होना चाहिये। शब्दार्थ का विरोध होने पर भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है ।।२४-२६।। विकृति मात्र यूप का छेदन और अपकर्ष होना चाहिये ।।२७।। पुरोडाशों पर उपकार करने वाला अनुयाज कर्म दक्षिणाग्नि में होने वाले 'पिष्टलेप होम' और 'फलीकरण होम' का उत्कर्ष (ऊपर के प्रकरण से सम्बन्धित) नहीं कर सकता ।।२८।। जैसे प्रयाज उक्त दोनों होमों का उत्कर्षक नहीं हो सकता वैसे ही प्राकृत वेदि अभिवासान्त अङ्ग समूह का अपकर्षक (नीचे वाले प्रकरण से सम्बन्धित) नहीं हो सकता ।।२९।। पूर्वपक्ष है कि प्रातः सवन उत्कर्ष को प्राप्त होकर माध्यन्दिन सवन का भी उत्कर्ष करता है उसी तरह सान्तारनीया' नामक इष्टि भी अग्नि होत्र का उत्कर्ष करती है। यदि ऐसा न किया जाय तो कर्म गुण रहित हो जाता है। यदि इसे न माना जाय तो उक्त दोनों कर्मों में व्यवधान हो जाता है ।।३०-३१।।

अव्यवायाच्च ।।३१।।

असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत् ।।३२।।

प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥३३॥
सम्बन्धात्सवनोत्कर्षः ॥३४॥
षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥३५॥

इस पर मीमांसाकार का कथन है कि यदि का इष्टि स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हो जाय तो उससे अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं हो सकता क्योंकि उन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं। अग्निहोत्र का समय सायंकाल रखा गया है, यह नहीं कहा गया है कि 'सान्तापनीया' इष्टि के समाप्त होने पर अग्निहोत्र उसके पश्चात् ही किया जाय। अतः अग्निहोत्र अपने नियत समय सायंकाल को ही होना चाहिये ॥३२-३३॥ यदि प्रातः सवन से माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है तो उसका कारण यह है कि वे परस्पर सम्बन्धित हैं ॥३४॥ इसी प्रकार 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से षोडशी ग्रह का भी उत्कर्ष होता है, क्योंकि वे दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं ॥३४॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥१॥
सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥२।
कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥
मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥४॥
सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ॥५॥
संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥६॥
वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादिः स्यात् ॥७॥
कारणाद्वाऽनवसर्गः स्याद्यथा पात्रवृद्धिः ॥८॥
न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ॥९॥
पशुगुणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ॥१०॥

वाजयेय याग में दान दिये जाने वाले पशुओं के 'उपकरण' आदि संस्कार समग्र रूप कर देना चाहिये यह पूर्व पक्ष का कथन है ? इसका समाधान यह है कि समस्त पशुओं का एक संस्कार एक साथ करके तब दूसरा संस्कार तत्पश्चात् किया जाय। पर यदि कोई बहुत बड़ी बाधा सामने आ जाय तो एक-एक पशु का समग्र रूप से भी संस्कार किया जा सकता है ॥१-३॥ मुष्टि, कपाल, अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन तथा पावन इन संस्कारों में एक-एक का निर्वाप आदि रूप अनुष्ठान होना चाहिये। इसका समाधान है कि ये सब संस्कार एक ही कार्य की पूर्ति के लिये किये जाते हैं, अतः इन्हें एक साथ ही करना चाहिये ॥४-५॥ अवदान संयुक्त होम प्रकरण में जो केवल अवदान से उपक्रम किया गया है वह होम पर्यन्त समझना चाहिये ॥६॥ अंजन आदि सम्पूर्ण संस्कारों का समग्ररूप से अनुष्ठान होना चाहिये क्योंकि श्रुति वाक्य का ऐसा ही आशय है ॥७॥ पूर्व पक्ष कहता है कि 'अनुयाज' नामक होमों में 'पृष-दाज्य' धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना करली जाती है, वैसे ही प्रकृति यागों में अध्वर्यु रूप सहकारी न मिलने पर 'अवस्टजेत' की कल्पना होनी चाहिये। इसका उत्तर है कि विधान् वाक्य के अनुसार प्रत्येक यूप में समग्र रूप से ही अनुष्ठान होना चाहिये ॥८-९॥ पूर्व पक्ष कहता है कि प्रत्येक दान दिये जाने वाले पशु के उद्देश्य से जो एक-एक पुरोडाश हवन किया जाता है, उनमें एक-एक पुरोडाश में यावत अवदानों का अनुष्ठान होना चाहिये ॥१०॥

देवतैवैंककर्म्यात् ॥११॥
मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥१२॥
नानाबीजे एकमुलूखलं विभवात् ॥१३॥
विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् ॥१४॥
एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥
विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थदात् स्यात् ॥ १६॥

प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् ।।१७।।
मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रु तित्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवायाः स्यात् ।।१८।।
अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ।।१९।।
तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२०।।
कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात्ः तेनप्रत्यक्षसंयोगा-न्न्यायमात्रमितरत् ।।२१।।
प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् ।।२२।।
सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात् ।।२३।।

उपरोक्त कथन का समाधान करते हुये कहते हैं कि प्रत्येक पुरोडाश का प्रथम 'दैवत', फिर 'सौत्रिषकृत' तत्पश्चात् 'एड' अवदान होकर फिर होम होना चाहिये, क्योंकि ये तीनों अवदान पृथक्-पृथक् होने पर भी एक ही कर्म हैं ।।११।। अवदान काल में जो मंत्र पढ़ा जाता है उसके उच्चारण लाघव होने से भी उक्त अर्थ ही ठीक है ।।१२।। यज्ञ-कर्म के लिये जो अन्न द्वारा प्रस्तुत इष्टियाँ हो उनके लिये अन्न स्वच्छ करने को लिये एक ही ऊखल पर्याप्त है। पूर्वपक्ष का कथन है कि विधान में अन्नों का कई प्रकार से संस्कार करने का जो नियम बताया है उस दृष्टि से कई ऊखल होने चाहिये । इसके उत्तर में मीमांसा उक्त वाक्य का आशय एक ही ऊखल होना बतलाता है ।।१३-१५।। अग्निषोमीय पशु-याग में अनुयाज तथा प्रयाज के पात्र का भेद होना चाहिये ।।१६।। प्रकृत यागों में 'नारिष्ट होमों' का वर्णन पहले आया है इसलिये उपहोम उनके अन्त में होने चाहिये । क्योंकि प्रधान से पूर्व गौण को स्थान नहीं दिया जा सकता ।।१७।। आत्रेय मुनि का मत है कि प्रधान होमों के पश्चात् और नारिष्ट होमों से पूर्व 'उप-होमों' का अनुष्ठान होता है क्योंकि प्रधान होमों की तरह उनका विधान इसी प्रकार श्रुति में बताया गया है । नारिष्ट होमों का उप-होमों

के पीछे अवश्य अनुष्ठान होना चाहिये क्योंकि वह आनुमानिक है ॥१८॥ पर बादरायण मुनि इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि प्रकृति यागों में नारिष्ट होमों का प्रथम विधान किया गया है और उप-होमों का तत्पश्चात्,इसलिये उसी क्रम से अनुष्ठान उचित है। कहा गया है कि अग्निषोमीय की अपेक्षा आग्नेय याग प्रथम होना चाहिये क्योंकि अग्निषोम की अपेक्षा अग्नि' की उपस्थिति प्रथम होती है ॥१९।२०॥ राजसूय याग में विनदेवादि क्रियायें माहेन्द्र स्तोत्र के साथ अभिषेकपूर्ण सम्पन्न होनी चाहिये ॥२१॥ जिसका प्राकृत दृष्टि से पूर्व पाठ किया गया हो उसका अनुष्ठान भी पूर्व ही होना चाहिये ॥२२॥ यदि प्रकृति और विकृति दोनों संस्कारों का एक साथ करने का अवसर आ जाय तो वैकृत का प्राकृत से पश्चात् अनुष्ठान होना चाहिये ॥२३॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्तोपदिश्येत ॥१॥
अपि वा सर्वसङ्ख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत् ॥२॥
स्वस्थानात्तु विवृध्येरन्कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥३॥
समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः
स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥४॥
तच्छब्दो वा ॥५॥
उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ॥६॥
स्तोम विवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः
स्युस्तया हि दृष्टं द्वादशाहे ॥७॥
पर्यास इति चाऽन्ताख्या ॥८॥
अन्ते वा तदुक्तम् ॥९॥
वाचनात्तु द्वादशाहे ॥१०॥

पूर्व पक्ष का कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक अनुयाज के साथ 'पृष-दाज्य' के सम्बन्ध का विधान है, वैसे ही प्रत्येक 'प्रयाज' के साथ एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान किया गया है। इसलिये प्रयाज भेद से एकादश संख्या की भी अनुपात के अनुसार वृद्धि होनी चाहिये। इसके समाधान में कहा गया है कि एकादश संख्या की पूर्ति के लिए सब प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर अंतिम प्रयाज की द्विरावृत्ति होनी चाहिये। उक्त एका-दश संख्या सब प्रयाजों के लिये विधान की गई है ॥१-२॥ अपने-अपने स्थान में प्रत्येक उपसद् की द्विरावृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि प्रकृति-याग में उनके अनुष्ठान का यही क्रम नियत किया गया है ॥३॥ पूर्व पक्ष कहता है कि 'समिध्यमान' तथा सामिध्य' पद वाली दोनों सामधेनियों के मध्य में निवेश होना चाहिये क्योंकि वाक्य शेष में द्यावा-पृथिवी शब्द से उक्त दोनों सामधेनियों का उल्लेख करके उनके मध्य में 'धाम्या' नाम से आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया है ॥४॥ इसका समाधान है कि उक्त वाक्य-शेष में जो 'धाम्या' पद आया है उसका आशय समस्त आगन्तुक मन्त्रों से नहीं किन्तु केवल दो मन्त्रों से है ॥५॥ उक्त 'धाम्या' नामक दो मन्त्रों के अन्त में अधाम्या' मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी यही अर्थ निकलता है ॥६॥ पूर्व पक्ष का कथन है कि 'बहिष्पवमान' स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों का पर्यास पूर्व निवेश होना चाहिये, क्योंकि 'द्वादशाह' नामक याग में ऐसा ही देखा जाता है। यहाँ पर 'पर्यास' शब्द का अर्थ 'बहिष्पवमान स्तोत्र' के अन्तिम तीन मन्त्रों से है ॥७-८॥ इसका समा-धान है कि आगन्तुक मन्त्रों के चार आरम्भिक 'त्रिकों' का 'बहिष्पवमान स्तोत्र' के अन्त में निवेश होता है और 'द्वादशाह' के याग में जो आग-न्तुक त्रिकों का मध्य में निवेश होता है तो वहाँ उसका वैसा ही विधान पाया जाता है ॥९-१०॥

अतद्विकारश्च ॥११॥
तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥१२॥
अन्ते तत्तरयोर्दध्यात् ॥१३॥

अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् ॥१४॥
ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ॥१५॥
क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदनान्नपूर्वस्य ॥१६॥
अन्ते स्युरव्यवायात् ॥१७॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥
मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः ॥१९।
प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥२०॥

पर 'अतिरात्र' नामक याग में 'द्वादशाह' की भाँति निवेश नहीं हो सकता। 'द्वादशाह' की विकृति 'अहीन-सत्रादि' यागों में भी 'वृषण्वत्' शब्द वाले मन्त्रों से भिन्न मन्त्रों का मध्य में निवेश नहीं हो सकता ॥११-१२॥ पूर्व पक्ष कहता है कि माध्यन्दिन पवमान तथा आर्भव पवमान सामों के आधार पर प्रथम व द्वितीय त्रिक को छोड़ कर अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिये ॥१३॥ इसका समाधान है कि गायत्री, वृहती तथा अनुष्टुप छन्द वाले मन्त्रों में ही आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिये ॥१४॥ पूर्व पक्ष कहता है कि अनारभ्य पठित ग्रह तथा इष्टका में सवन तथा चयन का शेष है। इसका समाधान है कि उक्त ग्रह याग का और इष्टकायें अग्नि का शेष हैं, क्योंकि विधान में उनको इसी प्रकार अङ्ग रूप वतलाया है ॥१६॥ पूर्व पक्ष कहता है कि चित्रिणी आदि इष्टकाओं का उपधान अन्तिम चिति में करना चाहिये क्योंकि इससे पठित इष्टकाओं में व्यवधान नहीं होता। उसके लक्षणों से भी ऐसा ही प्रकट होता है। इसका समाधान है कि चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य से ऐसा ही प्रतीत होता है ॥१७-१९॥ 'लोकपृणा' नामक इष्टकाओं से प्रथम चित्रिणी आदि का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिये, क्योंकि 'लोकपृणा' केवल छिद्रों को भरने के लिए है ॥२०॥

संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ॥२१॥
अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ॥२२॥
पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥२३॥
अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२४॥
न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥२५॥
सञ्चिते त्वग्नि चिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥
क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥२७॥
अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥२८॥
परेणाऽऽवेदनाद्दीक्षितः स्यात्, सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥२९॥
इष्ट्यन्तेवा तदर्थो ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥३०॥

जो अग्नि पवमानेष्टि संस्कारों द्वारा संस्कारित हो, उसमें अग्निहोत्र करना कर्म-कर्तव्य है ॥२१॥ आधान कर्म के अनन्तर आहिताग्नि व्रत कर्तव्य है, क्योंकि उसका आधान से सम्बन्ध है ॥२२॥ पवमानेष्टियों से पहले अग्निहोत्रादि कर्म करना विधेय है ॥२३॥ यह पूर्व पक्ष का कथन है। इसका समाधान यह है कि यह वाक्य अर्थवाद (स्तुति-रूप) है और "ब्रह्मवादिनो मीमासन्ते" वाक्य से भी नित्याग्निहोत्रादि कर्मों का निषेध प्रकट होता है ॥२४-२५॥ अग्नि का चयन हो जाने पर पर अग्निचित्र नामक व्रत का अनुष्ठान कर्तव्य रूप है। इसका समाधान करते कहा है कि यह व्रत याग समाप्त हो जाने पर करना चाहिये। चयन के बाद व्रत का विधान कहीं नहीं पाया जाता ॥२६-२७॥ अग्नि का कर्म कारक द्वारा कथन होने से भी उक्त अर्थ सिद्ध नहीं होता ॥२८॥ अध्वर्यु के कहने के पश्चात् दीक्षित व्यवहार करना चाहिये। दीक्षा सम्बन्धी वाक्यों से इष्टि, दण्ड आदि पदार्थों के साथ दीक्षा का सम्बन्ध पाया जाता है, 'दीक्ष पीया' नाम से भी यही आशय प्रतीत होता है ॥२९-३०॥

समाख्यानं च तद्वत् ॥३१॥
अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥३२॥
न वाऽसम्बन्धात् ॥३३॥
काम्यत्वाच्च ॥३४॥
आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥३५॥
स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥३६॥
य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥३७॥
लिङ्गाच्च ॥३८॥
अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् ॥३९॥
तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥४०॥
प्रशंसा च विहरणाभावात् ॥४१॥
विधिप्रत्ययाद्वा, न ह्येकस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥४२॥
एकस्तोमो वा क्रतुसंयोगात् ॥४३॥
सर्वेषां वा चोदना विशेषात्प्रशंसा स्तोमानाम् ॥४४॥

पूर्व पक्ष का कथन है कि प्रयाज आदि अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होता है। वैसे ही काम्ययागों का अनुष्ठान भी पाठक्रम के अनुसार ही होना चाहिये ॥३१॥ इसका समाधान है कि उक्त यागों में कोई सम्बन्ध न होने से पाठक्रमानुसार अनुष्ठान की बात सिद्ध नहीं होती। इसके साथ ही काम्ययागों के लिये इस प्रकार का विधान भी नहीं पाया जाता ॥३१-३३॥ इस पर शङ्का की जाती है कि काम्ययागों का अनुष्ठान भी इच्छानुसार नहीं करना चाहिये ? ऐसा पाठक्रम निरर्थक सिद्ध हो जायगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे नित्य-यागों में 'सर्वस्वार' होम ज्ञानार्थ होने से सफल हो जाता है वैसे काम्यकर्मों का पाठक्रम भी ज्ञानार्थ होने से सफल समझा जा सकता है ॥३४-३५॥ सब यागों से पूर्व 'अग्निष्टोम' याग का अनुष्ठान आवश्यक है, क्योंकि प्रकरण में इसका कथन है और अन्य प्रमाणों से भी वह सिद्ध होता है ॥३६-३७॥ पूर्व

पक्ष है कि ज्योतिष्टोम की शेष छः संस्थाओं के पूर्व भी अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाना चाहिये ?।।३९।। इसका उत्तर है कि उक्त वाक्य से छः संस्थाओं का ही नहीं 'एकाह' आदि सम्पूर्ण यागों का भी तात्पर्य है ।।४०।। उक्त कथन में यह शङ्का की जाती है कि 'अग्निष्टोम' के सम्बन्ध यह मत प्रशंसा रूप हैं। विकृति-याग होने के कारण एकाह आदि में आपत्ति और विहार नहीं बन सकते ? ।।४१।। इसका समाधान करते हैं कि विधि प्रत्यय से आपत्ति और विहार का कथन ठीक जान पड़ता है क्योंकि धर्म प्राप्ति के विना प्रशंसा भी उपपन्न नहीं हो सकती ।।४२।। पूर्व पक्ष का कहना है कि 'अन्येन' शब्द से एक स्तोम वाले याग का अर्थ ठीक जान पड़ता है ? इसका समाधान यह है कि 'अन्येन' शब्द से 'एक-स्तोमक' और 'अनेक स्तोमक' सभी यागों को ग्रहण करना चाहिये ।।४३-४४।।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ।।१।।
अवदानाभिधारणाऽऽसादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् ।।२।।
यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ।।३।।
लिङ्गदर्शनाच्च ।।४।।
वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ।।५।।
सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यतु नक्षत्राऽतिक्रमवचनात् तदर्थे नानर्थकं हि स्यात् ।।६।।
तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वं ।।७।।
अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालविधाना दानन्तर्या-द्विशङ्का स्यात् ।।८।।

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥९॥
उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥१०॥

पाठक्रम का महत्त्व अर्थक्रम और श्रौतक्रम से कम पड़ जाता है, ये दोनों पाठक्रम की अपेक्षा प्रबल हैं ॥१॥ अवदान, अभिघारण तथा आसादन इन तीनों का क्रम प्रवृत्ति क्रमानुसार होना चाहिये, यह पूर्व पक्ष है ? इसका समाधान है कि इन तीनों कर्मों का अनुष्ठान प्रदान के क्रमानुसार होना चाहिये। प्रमाण से यह सिद्ध होता है ॥२-४॥ पूर्व पक्ष कहता है कि दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग करना कर्तव्य है ? इसका समाधान है कि कई शाखाओं में अग्न्याधान सम्बन्धी वाक्य पाया जाता है, तदनुसार ज्योतिष्टोम अग्न्याधान के पश्चात् होना चाहिये। विधान में अग्न्याधान ज्योतिष्टोम के अर्थ ही करने का वाक्य पाया जाता है। अग्न्याधान के पश्चात् ज्योतिष्टोम न करने वाले पुरुष के प्रति पवमान हवियों की कर्तव्यता का कथन किया गया है उससे भी यही नियम ठीक प्रतीत होता है। अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम न करने वाले पुरुष को दर्शपूर्णमास याग करना अनिवार्य हो जाता है॥५-९॥ब्राह्मण का ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व होना चाहिये, क्योंकि उत्कर्षता के नियम से ऐसा ही विधान पाया जाता है ? यह पूर्व पक्ष है, इसके सम्बन्ध में आगामी सूत्र में शङ्का करते हैं ॥१०॥

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥
सर्वस्य चैककर्मत्वात् ॥१२॥
स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥१३॥
प्रकरणात्तु कालः स्यात् ॥१४॥
स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥१५॥
अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ॥१६॥
पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद् ब्राह्मणस्य वचनात् ॥१७॥
एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानम् ॥१८॥

पुरोडाशस्त्वनिर्देशां तद्युक्ते देवताभावात् ॥१९॥
आज्यमपीति चेत् ॥२०॥

कदाचित् ज्योतिष्टोम के अनन्तर केवल पौर्णमास याग करना ही कर्तव्य है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य में केवल पौर्णमास शब्द ही पाया जाता है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि उक्त वाक्य में 'पौर्णमास' शब्द से 'दर्शपौर्णमास याग' का ही आशय है, क्योंकि वे दोनों मिल कर एक ही कर्म हैं ॥११-१२॥ यह भी हो सकता है कि उक्त वाक्य में 'पौर्णमास' शब्द 'दर्शपौर्णमास' याग का परिचायक न हो वरन् उससे ज्योतिष्टोम याग के ही किसी अन्य अङ्ग के अनुष्ठान का अभिप्राय हो ? इसका समाधान यह है कि उक्त अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् 'दर्शपौर्णमास' याग का आनन्तर्य रूप काल का विधान मानना ठीक है ॥१३-१४॥ पूर्व पक्ष है कि ज्योतिष्टोम याग अपने काल में होना चाहिये क्योंकि प्रधान होने के कारण उसके काल में बाधा नहीं पड़ सकती ? इसका समाधान है कि विधान में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध पाया जाता है, अग्न्याधान के काल का नहीं ॥१५-१६॥ पर ब्राह्मण द्वारा किये गये ज्योतिष्टोम याग के पीछे पौर्णमास याग का अनुष्ठान नियम से होना आवश्यक है ॥१७॥ शब्दों का अर्थ करने से यह भी प्रकट होता है कि 'अग्निषोमीय' से पूर्व ब्राह्मण कर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है ॥१८॥ पर ऊपर के विधान में 'अग्निषोमीय' के साथ याग शब्द न आने से केवल पुरोडाश याग का अर्थ ग्रहण करना ही उचित है ॥१९॥ दूसरा मत यह है कि उक्त अग्निषोमीय याग से आज्य-याग का ग्रहण करना चाहिये ॥२०॥

न मिश्रदेवतात्वादैन्द्राग्नवत् ॥२१॥
विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥२२॥
द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥२३॥

वचनाद्वै ककाल्यं स्यात् ।।२४।।
सान्नाय्याग्नीषोमीयविकारादूर्ध्वं: सोमात्प्रकृतिवत् ।।२५।।
तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्यास ।।२६।।

उपरोक्त सूत्र के मत का समाधान करते हुये कहते हैं कि जैसे ऐन्द्राग्न-याग मिश्र देवताक है वैसे ही आज्य-याग मिश्र भी देवताक है ।।२१।। प्रकृति याग के अनन्तर होने वाले 'ऐन्द्राग्न' आदि विकृति-याग एक दिन में पूर्ण होने वाले हों, क्योंकि विकृति यागों में प्रकृतिकालता का नियम है ।।२२।। इस पर पूर्व पक्ष का कथन है कि उक्त यागों के दो दिन व्यापी होने पर भी 'प्रकृतिवाद विकृति कर्तव्या' इस वाक्य का विरोध नहीं होता ? इसका समाधान है कि उक्त याग एक ही दिन में हो, ऐसा वाक्य विशेष पाया जाता है ।।२३-२४।। जैसे 'सांनाय्य' तथा 'अग्निषोमीय' दोनों याग ज्योतिष्टोम के पश्चात् होते हैं वैसे ही उक्त दोनों यागों के विकृति याग पीछे होने चाहिये और जैसे सांनाय्य तथा अग्निषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग के पीछे होता है वैसे ही ज्योतिष्टोम के विकृति यागों का अनुष्ठान 'दर्श पौर्णमास' याग के पीछे होना चाहिये ।।२५-२६।।

[इस अध्याय में जिस 'कर्मों के क्रम' का निरूपण किया गया है वह एक ऐसा विषय है कि जिसका महत्व वर्तमान समय में वहुत थोड़े लोग ही हृदयंगम कर सकते हैं । पर जिस युग में इस देश में यज्ञों की धूम थी और राजा तथा बड़े धनवान लोग ही यज्ञ-याग नहीं करते थे वरन् ब्राह्मण भी दान द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को पुनः परोपकारार्थ यज्ञ कर्म में ही लगा देते थे, उस समय वे समस्यायें निरन्तर उठती रहती थीं कि कौन कर्म पहले और कौन पीछे किया जाय । काल प्रभाव से ऐसी प्रथा और संस्थाओं में मतभेद उत्पन्न हो ही जाता है और विभिन्न सम्प्रदायों अथवा वंशों के विद्वान् अपना प्रभाव और श्रेष्ठता प्रकट करने के लिये शास्त्र-वाक्यों के पृथक-पृथक अर्थ करके क्रियाओं के क्रम और

महत्व में हेर-फेर करने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह देख कर महर्षि जैमिनि ने देश भर की यज्ञ-क्रियाओं में एकरूपता लाने के लिये मीमांसा-दर्शन की रचना की और उसमें ऐसा प्रयत्न किया कि यज्ञ सम्बन्धी समस्त मतभेदों और भिन्नताओं का अन्त हो जाय। इसलिये उन्होंने प्रत्येक विषय को शङ्का-समाधान या प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा जिससे प्रति-पक्षियों की शङ्काओं का निवारण हो जाय अथवा महर्षि जैमिनि के अनुयाइयों को आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रणाली और रीति-नीति का समर्थन करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाय। यही कारण है कि उन्होंने प्रधान और गौण यागों तथा उनके अङ्गों के अनुष्ठान की विधियों का बहुत ही छान-बीन कर विवेचन किया और मूल सिद्धान्तों के साथ ही छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया के सम्बन्ध में जो शङ्का प्रचलित थी उसका पूरी तरह निराकरण कर दिया।

यद्यपि अब प्राचीन यज्ञों का उस रूप में प्रचलन न रहने से लोग मीमांसा-दर्शन की बातों को सहज में समझ भी नहीं सकते और उनमें जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा जिन युक्तियों से काम लिया गया है उनके आशय को ठीक ढङ्ग से ग्रहण नहीं कर सकते, तो भी यह विषय काफी महत्वपूर्ण और आकर्षक है और कुछ न सही तो प्राचीनता के नाते ही प्रत्येक मनुष्य को इसका महत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इससे उस समय की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है और विदित होता है यज्ञ-प्रथा ने सामान्य जनता तथा विशेष वर्ग की लोगों को भी किस प्रकार अभिभूत कर रखा था।]

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥

षष्ठ अध्याय

प्रथम पाद

[पाँचवे अध्याय में यज्ञ-सम्बन्धी अनेक प्रकार के अनुष्ठानों, क्रियाओं तथा छोटे-बड़े यज्ञों का क्रम बतलाया गया है कि कौन-सा कर्म किस कर्म के आगे और कौन पीछे करना चाहिये, तथा यह भी कि आवश्यकता पड़ने पर उनमें किस प्रकार परिवर्तन करना शास्त्रानुकूल कहा जा सकता है। अब इस छठे 'अधिकाराध्याय' में यह निरूपण किया गया है कि यज्ञ-कर्मों का अधिकार किसको है और किसको उनका निषेध है।]

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥१॥
असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥२॥
प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धस्तस्मात्कर्मोपदेशः स्यात् ॥३॥
फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्र सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥
कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्न्येन गम्यते ॥५॥
लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ॥६॥
तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥७॥
जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्; तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत; जात्यर्थस्याऽविशिष्टत्वात् ॥८॥
८ (अ) विभक्त्येति क्षेत्र ।
चोदितत्वाद्यथाश्रुति ॥९॥
द्रव्यवत्वात्तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥१०॥

पूर्व पक्ष का कथन है कि द्रव्यों का कर्म-संयोग की दृष्टि से गौण स्थान है अर्थात् मुख्य उद्देश्य कर्म है और द्रव्य उसका साधन होने से गौण है ? इसका समाधान है कि यज्ञ का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति है । यहाँ पर स्वर्ग का आशय प्रीति-प्रेम से है, अतः यज्ञ-कर्म का मूल आशय स्वर्ग अथवा प्रीति ही है, उसे कर्म कहना उपयुक्त नहीं जान पड़ता । जब यह कहा जाता है कि 'स्वर्ग के लिये यज्ञ करो' तब स्वर्ग ही प्रधान हुआ और यज्ञ उसका साधन बन गया ॥१-३॥ क्योंकि यज्ञादि कर्मों से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है और श्रेष्ठ फल की इच्छा सब को होती है, अतः यज्ञ का अधिकार स्त्री-पुरुष सब को है । वैदिक कर्मों के अधिकार सम्बन्धी श्रुतियों में स्त्रियों के यज्ञ करने का अधिकार निषेध नहीं है ॥४-५॥ एतिशायन ऋषि का मत है कि 'श्रुति वाक्य' में पुलिङ्ग में कथन मिलता है, इस कारण स्त्रियों का यज्ञाधिकार स्वीकार नहीं किया जा सकता । अज्ञात भ्रूण (गर्भ) के हनन सम्बन्धी श्रुति से भी यज्ञ का अधिकारी पुरुष ही है ॥६-७॥ पर बादरायण आचार्य का मत है कि वेद-वाक्य में पुलिङ्ग समस्त मनुष्य जाति का बोधक है न कि केवल पुरुषों का । इससे यज्ञाधिकार में स्त्रियों का भी अधिकार होना चाहिये । वेद प्रतिपाद्य होने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है ॥८-९॥ इसमें शङ्का है कि यज्ञ द्रव्य द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है और द्रव्य पुरुषों के ही अधिकार में रहता है । स्त्रियाँ तो खरीदी और बेची जाती हैं उनका धन पर अधिकार कैसे हो सकता है । ऐसी दशा में वे यज्ञ की अधिकारिणी बन कर उसे किस प्रकार सम्पन्न कर सकती हैं ? ॥१०॥

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥११॥
तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥१२॥
फलोत्साहाऽविशेषात् ॥१३॥
अर्थेन च समवेतत्वात् ॥१४॥
क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥१५॥

स्ववत्तामपि दर्शयति ॥१६॥
स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥१७॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥
क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥१९॥
फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥२०॥

स्त्रियों को उनके पिता, भाई आदि वेच देते हैं । इससे प्रतीत होता है कि उनका सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नहीं होता । अगर वे स्वयं परिश्रम करके धनोपार्जन करके यज्ञ करने की वात सोचें तो भी सम्भव नहीं । क्योंकि जब उन पर पति का अधिकार है तो उनका कमाया धन भी उसी का हो जाता है ?॥११-१२॥ अब इसका समाधान करते हैं कि वैदिक कर्मों तथा पुण्य कर्मों का उत्साह पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी देखा जाता है । याज्ञवल्क्य के पूछने पर मैत्रेयी ने अपना उद्देश्य मुक्ति ही वतलाया । विवाह-संस्कार के समय भी दम्पत्ति को यह उपदेश दिया जाता है कि तुम दोनों मिल कर धर्म-अर्थ-काम का सम्पादन करो । इससे स्त्री भी धन की अधिकारिणी सिद्ध होती है । स्त्रियों के वेचने की वात गलत है । वह धर्म-क्रिया है जो विधि के अनुसार की जाती है । वेचना तो वह है कि एक निश्चित रकम लेकर नीच-ऊँच का विचार न करके कैसे भी दे दिया जाय ।।१३-१५॥ शास्त्र में दम्पत्ति का एक ही धर्म वतलाया गया है. इससे स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति में से उचित धर्म कार्य कर सकती हैं ॥१६॥ शास्त्र में स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक ही धर्म के बोधक वाक्य मिलते हैं । यह भी कहा गया है कि स्त्री-पुरुष दोनों को मिल कर एक कर्म करने से वह पूर्ण होता है ॥१७-१८॥ पूर्व पक्ष फिर कहता है कि जब स्त्री का मूल्य लेकर उसे दिया जाता है तब वह धन की स्वामिनी नहीं हो सकती ?॥१९॥ इसका समाधान है कि स्त्री धर्म रूप फल को चाहती है, इसलिये धन से उसका भी सम्वन्ध सिद्ध होता है ॥२०॥

फलवत्तां च दर्शयति ।।२१।।
द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् ।।२२।।
गुणस्य तु विधानत्वात्पत्न्या द्वितीयाशब्दः स्यात् ।।२३।।
तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ।।२४।।
चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ।।२५।।
निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः, क्रतुषु ब्राह्मण-श्रुतिरित्यात्रेयः ।।२६।।
निमित्तार्थे च वादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात् ।।२७।।
अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ।।२८।।
निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ।।२९।।
वैगुण्यान्नेति चेत् ।।३०।।

शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष के मिल कर यज्ञ करने और उसके द्वारा फलचतुष्टय प्राप्त करने का कथन है ।।२१।। पूर्व पक्ष है कि जहाँ विधान में 'दो पुरुषों' के अग्न्याधान करने का उल्लेख है वहाँ उसका आशय राजा और उसके पुरोहित के मिल कर यज्ञ करने से है?।।२२।। इसका समाधान है कि दो के अग्न्याधान के उल्लेख में 'दूसरे' का आशय पत्नी से ही है साथ ही शास्त्र में यह भी आया है कि यद्यपि स्त्री की योग्यता वेदाध्ययन और आशीर्वाद की दृष्टि से पुरुष के तुल्य नहीं होती पर उसे यज्ञ में अग्न्याधान का अधिकार है ।।२३-२४।। पूर्व पक्ष है कि चारों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है । ब्राह्मणादि उच्च वर्णों में कोई विशेषता प्रकट नहीं होती । आत्रेय ऋषि का कथन है कि श्रुति के वाक्यों से प्रमाणित होता है अग्न्याधान का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तीन वर्णों का ही है, शूद्र का उससे सम्बन्ध नहीं ? वादरि ऋषि का मत है कि नैमित्तिक सामर्थ्य— योग्यता से अधिकार उत्पन्न होता है । इस दृष्टि वैदिक कर्मों में सब का अधिकार सिद्ध होता है । यजुर्वेद में भी कहा गया है कि जैसे परमात्मा वेद वाणी का सब को उपदेश करता है वैसे

ही मनुष्यों को भी विना भेदभाव के करना चाहिये ॥२५-२८॥ पूर्व पक्ष है कि वेदों में यात्रादि कर्मों का अधिकार तीन वर्णों को ही प्रतीत होता है। शूद्र ब्रह्म विद्या से रहित होते हैं, उनके लिये उपनयन विधि में व्रत का उल्लेख भी नहीं है, इससे उनका अधिकार नहीं हो सकता? ॥२९-३०॥

न काम्यत्वात् ॥३१॥
संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥३२॥
अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥३३॥
गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥३४॥
संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥३५॥
विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥३६॥
अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥३७॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥
त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥३९॥
अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥४०॥

उपर्युक्त कथन का समाधान करते हुये मीमांसा का मत है शूद्रों में भी कामना पाई जाने से उनका अधिकार सिद्ध होता है। संस्कारों के कारण ब्राह्मणादि वर्णों की प्रधानता मानी जाती है, पर शूद्र भी अपनी योग्यता का प्रमाण देकर उपनयन और वैदिक कर्मों का अधिकारी बन सकता है ॥३१-३२॥ पूर्व-पक्षी फिर शङ्का करता है कि वेदों के कथन द्वारा ही यह प्रतीत होता है कि शूद्रों को इस प्रकार का अधिकार नहीं है। वेदों में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत' आदि वाक्य मिलता है, उसमें शूद्रों को पाद स्थानीय बतलाया है, फिर वे वेदों का अध्ययन भी नहीं कर सकते? इसका समाधान है कि उपनयन संस्कार विद्या के आधार पर होता है। इसलिये जो विद्या प्राप्त करले उसी का अधिकार माना जायगा ॥३३-३५॥ जब शूद्रों को विद्या का अधिकार नहीं तो वे विद्या

के ज्ञाता कैसे हो सकते हैं ? ।।३६।। इसका समाधान है कि विद्या का सामर्थ्य न होने से ही वह शूद्र कहा जाता है और उपनयन का अधिकारी नहीं माना जाता, पर यदि वह विद्वान बन जाये तो वह भी अधिकारी है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे 'छान्दोग्य' उपनिषद् में सत्यकाम जावाल को योग्यता के आधार पर अधिकारी मान लिया गया था ।।३७-३८।। अब पूर्व पक्ष है कि तीनों वर्णों में भी धनवान को ही यज्ञ का अधिकार है, क्योंकि उसके लिए द्रव्य का होना आवश्यक है ? इसका समाधान है कि धनी या गरीब होना कोई स्थायी बात नहीं है। गरीब भी अवसर पाकर धनवान हो सकता है, अतः अधिकार सब को है ।।३९-४०।।

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ।।४१।।
उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ।।४२।।
अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ।।४३।।
वचनाद्रथकारस्याधाने सर्वशेषत्वात् ।।४४।।
न्यायो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।।४५।।
अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात् ।।४६।।
आनर्थक्यं च संयोगात् ।।४७।।
गुणार्थमिति चेत् ।।४८।।
उक्तमनिमित्तत्वम् ।।४९।।
सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन् ।।५०।।
स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ।।५१।।
लिङ्गदर्शनाच्च ।।५२।।

अङ्गहीन को भी वैदिक कर्मों का अधिकार है। धर्म का संबंध जीवात्मा से है, जो अङ्गहीन में भी होता है ।।४१-४२।। जिसके तीन ऋषि न हों ऐसा ऋत्विक यज्ञ कराने का अनधिकारी है ।।४३।। रथकार को अग्न्याधान करने का अधिकार ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है । वह

तीनों वर्णों का ही अङ्ग है। शास्त्रों में रथकार को शूद्र नहीं कहा गया है और उसे अधिकारी माना गया है ॥४४-४५॥ शूद्र को अग्न्याधान का अधिकार इसलिये नहीं दिया गया, क्योंकि वह कर्म रहित होता है। इसलिये उसे अग्न्याधान का अधिकार देने से अनर्थ हो सकता है ॥४६-४७॥ फिर शङ्का है कि विद्या का गुण प्राप्त करके तो शूद्र अग्न्याधान का अधिकारी बन सकता है ? इसका उत्तर है कि यह सिद्धान्त ठीक है, जाति का आधार योग्यता और सामर्थ्य पर ही है ॥८ -४९॥ यह शङ्का है कि यदि ऊँच-नीच का भेद कर्म पर है तो सुन्दर धनुषधारी क्षत्रिय सर्वोत्तम ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ मानने चाहिये। इसका उत्तर है कि वेदाध्ययन की दृष्टि से ब्राह्मण शीर्ष स्थानीय है इससे वे ही श्रेष्ठ हैं ॥५०॥ नौका बनाने वाले निषादों को यज्ञ का अधिकार है ऐसा प्रमाण मिलता है ॥५१-५२॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् ॥१॥
अपि वोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात् सर्वं दर्शनं तथाभावोऽविभागे स्यात् ॥२॥
प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥ ॥
प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥४॥
तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वत्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥५॥
अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येतः प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणावत् ॥६॥
अन्यस्यापीति चेत् ॥७॥

अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ॥८॥
फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥९॥
न नित्यत्वात् ॥१०॥

मनुष्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार फलों की सिद्धि है। इसके लिये प्रत्येक वर्ण वाले को अपने-अपने अधिकारानुसार प्रयत्न करना चाहिये ॥१॥ जन्म काल के संयोग से अन्तःकरण की बनावट—निर्माण जैसा हो जाता है उसी के अनुसार वर्ण-भेद भी हो जाता है ॥२॥ वेद में पुरुष को कर्मों का कर्ता माना गया है। तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र होता है ॥३॥ शङ्का होती है कि वेद में तो पुरुष को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र कहा है, तो भी लोक में वह अनेक बातों में परतन्त्र दिखाई देता है? इसका समाधान यह है कि कर्ता रूप से मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर उस कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है। इसी से उसकी स्वतन्त्रता अपूर्ण जान पड़ती है ॥४-५॥ जिस प्रकार पशु अपने सींग से बदन को खुजला सकता है और किसी वृक्ष से घिस कर भी उसी कार्य को कर सकता है, वह इस कार्य में स्वतन्त्र है, पर इनके फल स्वरूप जो सुविधा या असुविधा उत्पन्न हो जाय उसे अनिवार्य रूप से भोगना होगा ॥६॥ शङ्का है कि एक व्यक्ति के किये हुए कर्म का फल दूसरा व्यक्ति नहीं भोग सकता? इस का उत्तर है कि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध या नियम नहीं है ॥७-८॥ फिर शङ्का है कि जो व्यक्ति किसी दूसरे के लाभार्थ कार्य करता हो उसका फल उस दूसरे को प्राप्त होता है। इसका उत्तर यही है कि कर्म के सम्बन्ध में परमात्मा का नियम अटल है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ सकता ॥९-१०॥

कर्म तथेति चेत् ॥११॥
न समवायात् ॥१२॥
प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥१३॥

फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥१४॥

नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥ .५॥

लोके कर्मणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥१६॥

अपराधेपि च तैः शास्त्रम् ॥१७॥

अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः; शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं; तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥१८॥

प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात्प्रतिषिद्धानां, विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥१९॥

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते; तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः ॥२०॥

फिर प्रश्न किया जाता कि एक के द्वारा कमाये धन का दूसरे को भोग करते हम प्रत्यक्ष देखते हैं ? तो इसका उत्तर है कि जीव का अपने कृत कर्मों के साथ जो सम्बन्ध है वह मिट नहीं सकता और जो दूसरे का धन भोग करने को पा जाता है तो वह उसके पुराने या नये कर्मों का ही फल होता है। यदि कभी किसी को बिना इस प्रकार के सम्बन्ध के किसी का धन मिल जाता है तो वह अपने आप ही नष्ट हो जाता है अथवा रोग दुर्घटना आदि कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे वह उसका भोग कर ही नहीं सकता ॥ ११–१२ ॥ फिर शंका है कि यदि प्रारब्ध की ऐसी प्रबलता है तो मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र कहना व्यर्थ है ? इसका उत्तर यह है कि प्रारब्ध रूप कर्म मनुष्य को केवल भोग देने के लिये होते हैं। वर्तमान समय के क्रियमाण कर्मों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनको मनुष्य यथारुचि भला या बुरा करके आगे के लिये वैसी ही प्रारब्ध बना सकता है ॥१३॥ फिर शंका है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वह भोग के लिये ही करता है। तब यदि प्रारब्ध द्वारा उसके भोग नियत हैं तो उसे उसी प्रकार

के कर्म करने पड़ेंगे। ऐसी अवस्था में उसे कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं कह सकते ? इसका उत्तर है कि प्रारब्ध द्वारा नियत बुरे-भले भोगों को भोगता हुआ भी मनुष्य आगामी कर्मों को किसी भी प्रकार कर सकता है ॥१४--१८॥ पूर्व पक्ष कहता है कि जब कर्म विधि-निषेध रूप किये जाते हैं तो संसार में वही वेद का काम दे सकते हैं. अन्य वेद को मानने से क्या प्रयोजन है ? जैसे कोई अपराध करने पर उसके लिये दण्ड देने वाला शास्त्र संसार में बनाया गया है, उसी प्रकार मनुष्य के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक कार्यों के लिये भी लौकिक शास्त्र काम दे सकता है, वेदों की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों से अगोचर विषयों का ज्ञान वेदरूप शास्त्र से ही हो सकता है। यदि ईश्वर और पारलौकिक विषयों का ज्ञान अपने आप हो जाता तो शास्त्र को न मानने की बात कही जा सकती थी। शास्त्र का ज्ञान देवता—(ईश्वर) का आश्रय लेने से ही हो सकता है ॥१६-१९॥ निषिद्ध पदार्थों और कर्मों का ज्ञान शास्त्र द्वारा होता है ॥२०॥

तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ॥२१॥
अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ॥२२॥
अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ॥२३॥
एतस्मिन्नसंभवन्नर्थात् ॥२४॥
न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥२५॥
दर्शनात्काललिङ्गानां कालविधानम् ॥२६॥
तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्त्तेत ॥२७॥
तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥२८॥
तथान्तःक्रतु युक्तानि ॥२९॥
आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥३०॥
ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात् ॥३१॥

शास्त्र का अर्थ हृदयङ्गम करने से ही मनुष्य का उद्देश्य पूरा

हो सकता है। जो शास्त्र इस प्रकार का उपदेश नहीं करता तो वह निरर्थक हो जाता है। मनुष्य को जन्म-काल से ही शास्त्रों के विधान का पालन करना चाहिये ॥२१--२२॥ उपनयन विधि में चाहे सब कर्म वेदोक्त न हों, तो भी वेदानुकूल होने से उनका पालन कर्तव्य है ॥२३॥ पूर्व पक्ष कहता है कि अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान है अतः उनको निरन्तर करता रहे। इसका उत्तर यह है कि अनुष्ठान करना आवश्यकीय है, पर रात-दिन सदैव अग्निहोत्र करते रहना असंभव है। इसलिये उसे नियत समय पर ही किया जाना चाहिये ॥२४--२६॥ जैसे 'दर्श पौर्णमास' यज्ञ के लिये पूर्णमासी तथा अमावस्या को करने का विधान बना दिया गया है। इसी प्रकार प्रातः और सायंकाल के समय यज्ञ करने का नियम भी पाया जाता है ॥२७--२९॥ जिस प्रकार 'दर्श पूर्णमास' आदि यागों का समय नियत है उसी प्रकार विकृत यागों का भी समय नियत किया गया है ॥३०॥ अब ब्राह्मण आदि के तीन ऋणों के विषय में पूर्वपक्ष कहता है कि जैसे दर्श पूर्णमास याग आदि करना नैमित्तिक नियम है उसी प्रकार आचार स्वरूप ब्रह्मचर्य आदि भी नैमित्तिक हैं ? इसका उत्तर है कि यज्ञ, ब्रह्मचर्य और प्रजा उत्पत्ति ये तीन कर्म तीन ऋणों को चुकाने के उद्देश्य से माने गये हैं, इसलिये ये नित्य व्रत हैं, नैमित्तिक नहीं हो सकते ॥३१--३२॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ॥१॥

अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधानेह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्रमितर-त्तदर्थत्वात् ॥२॥

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात्प्रधानेनाऽभि-सम्बन्धात् ॥३॥

कर्माऽभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यात् ॥४॥

अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु ॥५॥

विध्यपराधे च दर्शनात्समाप्तेः ॥६॥

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥७॥

काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥८॥

असंयोगात्तु नैवं स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ॥९॥

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥१०॥

सर्व शक्तियों के स्रोत परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना प्राणियों का धर्म है। यज्ञादि का अनुष्ठान भी परमात्मा की ओर प्रवृत्ति के लिये ही किया जाता हैं। पर ये साधन जड़ और एक देशीय हैं। परमात्मा में सच्ची और पूरी प्रवृत्ति होने से ही मनुष्य सबसे बड़े लाभ का भागीदार बनता है। अन्य गुण-पूजा उपासना आदि गौण हैं ॥१-२॥ परमात्मा की तरफ से उदासीन रहना दोष की बात है इसलिये मनुष्य को उससे अवश्य सम्बन्ध जोड़ना चाहिए ॥३॥ आचार्य जैमिनि का मत है कि प्रयोग में एक वचन का व्यवहार होने से सब शाखाओं में कर्मों में अभेद है और सब अङ्गों का कथन है ॥४॥ एक प्रकार के अनुष्ठानों में समानता पाये जाने से सब शाखाओं की विधियाँ एक-सी देखने में आती हैं ॥५॥ उक्त कर्मों की पूर्ति में विधान तथा दोष एक समान माना जाने से कर्म को एक मानना चाहिए ॥६॥ इसीलिए इनके प्रायश्चित्त के विधान में भी एकता पाई जाती है ॥७॥ शंका है कि काम्य कर्मों में भी अर्थी सब शाखाओं में एक-सा पाया जाता है, इससे भी अभेद सिद्ध होता है ? ॥८॥ समाधान है कि विधि रूप शब्द प्रमाण के पाये जाने से ऐसा नहीं हो सकता और अङ्गहीन होने से भी ठीक नहीं ॥९॥ यदि यह कहा जाय कि फिर तो काम्य-कर्म सन्ध्या वन्दनादिक

के समान ही समझे जाने चाहिए तो इसका उत्तर है कि सन्ध्या आदि न करने पर मनुष्य पर प्रत्यक्ष दोष आता है पर काम्य कर्मों में ऐसी कोई बात नहीं ॥१०॥

क्रियाणामाश्रितत्वाद्द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ॥११॥
अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं-स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ॥१२॥
श्रुति प्रमाणत्वाच्छिष्टाभावेऽनागमोऽन्यस्याऽशिष्टत्वात् ।१३।
क्वचिद्विधानाच्च ॥१४॥
आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥१५॥
नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥१६॥
तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥१७॥
न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥१८॥
देवतायां च तदर्थत्वात् ॥१९॥
प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः ॥२०॥

यदि हवन किये जाने वाले पदार्थों में कुछ अन्तर पड़ जाय तो उसकी क्रिया में कोई अन्तर नहीं माना जायगा ॥ ११ ॥ द्रव्यों का भेद होने पर भी कर्म का भेद न होने से और रूप तथा शब्द में भी अन्तर न पड़ने से अग्निहोत्र की क्रियाओं को तत्वतः एक ही माना जाता है जैसे गौओं में भिन्नता रहने पर वे सब एक 'गौ' जाति की ही मानी जाती हैं ॥ १२ ॥ पूर्व-पक्ष का कथन है कि श्रुति में जिस द्रव्य के हवन का उल्लेख है उसके स्थान पर अन्य द्रव्य का प्रतिनिधि रूप प्रयोग करने का कोईशास्त्रीय विधान नहीं है । यदि कहीं विधान में बतलाये द्रव्य का सर्वथा अभाव होने के कारण उसके स्थान में दूसरा द्रव्य ले लिया जाय तो अपवाद ही माना जायगा, उसे विधि नहीं कहा जा सकता ? ॥१३-१४॥ इसका समाधान है कि यज्ञ-विधि में 'चावल के स्थान पर सांवां ले' इस प्रकार के द्रव्यान्तर के प्रमाण मिलते हैं ॥ १४ ॥ पर इस प्रकार का

प्रतिनिधि द्रव्य भी नियम के भीतर रह कर ही लेना चाहिये, क्योंकि जहाँ किसी द्रव्य को सामान्य रूप से लिया जाता है वहाँ उसका भी एक नियम बन जाता है ॥ १६ ॥ शंका है कि यदि यज्ञ में सोम अथवा उसका प्रतिनिधि द्रव्य न लिया जाय तो क्या हानि है ? उत्तर है यदि इन दोनों में से कोई न होगा तो यज्ञ की पूर्ति नहीं हो सकती ॥ १७ ॥ पर देवता, अग्नि, मंत्र और प्रमा आदि कर्म का प्रतिनिधि नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा करने से यज्ञ का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। देवता यज्ञ का मुख्य विषय है ॥ १८-१९ ॥ निषिद्ध पदार्थों (जैसे मद्य मांस आदि) का यज्ञ में पूर्ण निषेध है ॥ २० ॥

तथा स्वामिनः फलसामवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२१॥

बहूनां तु प्रवृत्तावन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥२२॥
स स्वामी स्यात्संयोगात् ॥२३॥
कर्मकरो वा क्रीतत्वात् ॥२४॥
तस्मिश्च फलदर्शनात् ॥२५॥
स तद्धर्मा स्यात्तत्कर्मसंयोगात् ॥२६॥
सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥२७॥
निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥२८॥
अशब्दमिति चेत् ॥२९॥
नाऽनङ्गत्वात् ॥३०॥

क्योंकि यज्ञ का स्वामी अथवा यजमान उसका कर्म करके फल प्राप्त करता है इस लिये उसका भी प्रतिनिधि नहीं हो सकता, पर यदि एक यज्ञ में अनेक यजमान हों और यज्ञ होते-होते उनमें से कोई मर जाय तो शेष कर्मों की पूर्ति के लिये वहाँ किसी अन्य को सम्मिलित करके स्थान की पूर्ति करले और यज्ञ को विधि-पूर्वक सम्पन्न करावे ॥२१-२२॥ शंका है कि क्या उक्त प्रतिनिधि यज्ञ-फल का स्वामी माना जायगा ? इसका

उत्तर है कि वह तो एक भृत्य अथवा कार्यकर्ता के समान यज्ञ की क्रियाओं का निर्वाह करता है वह फल का स्वामी नहीं हो सकता, क्यों कि सर्वत्र फल का अधिकारी स्वामी ही माना जाता है, नौकर नहीं माना जाता ।। २३-२४ ।। पर चूंकि वह यजमान का स्थानापन्न होता है। इसलिये वह यजमान के धर्म वाला होता है ।।२६।। अब हवनोपयोगी द्रव्यों के मिलते-जुलते प्रतिनिधियों का विवरण देते हैं कि चावल के स्थान पर नीवार (सांवाँ) का प्रयोग किया जा सकता है। खदिर की लकड़ी के यूप के स्थान में पलाश की लकड़ी का यूप बनाया जा सकता है। इसमें शंका की जाय कि इसका क्या प्रमाण है, तो विधान में खदिर और पलाश दोनों का यूप लिखा है। इसका आशय यही है कि पहले खदिर का ही ले जब वह न मिले तो पलाश का लेले ।। २७-३० ।।

वचनाच्चाऽन्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावा-
दितरस्य ।।३१।।

न प्रतिनिधौ समत्वात् ।।३२।।
स्याच्छ्रुतिलक्षणे नित्यत्वात् ।।
न तदीप्सा हि ।।३४।।

मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ।।३५।।
प्रवृत्तेऽपीति चेत् ।।३६।।
नानर्थकत्वात् ।।३७।।
द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ।।३८।।
अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेष-
त्वात् ।।३९।।
विधिरप्येकदेशे स्यात् ।।४०।।
अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निर्वर्तेतार्थानामविभक्त-
त्वाद्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ।।४१।।

पर प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं लिया जाता । जैसे सोम के

न मिलने पर 'पूतिका' नाम की लता से काम चलाया जाता है। यदि पूतिका भी न मिले तो उसकी जगह अन्य द्रव्य को प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता ॥ ३१-३२ ॥ पूर्व पक्ष है कि यदि अन्य पदार्थ प्रतिनिधि से मिलता हो तो उसे उसका प्रतिनिधि बना सकते हैं ? पर यह तर्क ठीक नहीं है। पहले तो 'सोम' ही मुख्य थी, उसके अभाव में उससे मिलती-जुलती 'पूतिका' ग्रहण की गई। अब यदि उसकी जगह कोई अन्य द्रव्य लिया जाय तो उसकी समता पूतिका से होगी, सोमका तो नाम ही उड़ गया, यह नियम विरुद्ध है ॥ ३३-३४ ॥ इस विवेचन से निश्चय होता है कि यदि मुख्य द्रव्य का मिलना असम्भव हो तो ही उसका प्रतिनिधि द्रव्य लेना उचित है ॥ ३४ ॥ यदि यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाश आदि बना लेने के पश्चात भी मुख्य द्रव्य मिल जाय तो उसी को लेना चाहिये यह पूर्व कक्ष है ? ॥३६॥ इसका समाधान है कि उस समय मुख्य द्रव्य का लेना निरर्थक है ॥ ३७ ॥ यदि मुख्य द्रव्य संस्कार हीन और प्रतिनिधि संस्कारित है तो भी मुख्य द्रव्य को ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वह यज्ञ का अंग है ॥ ३८ ॥ पूर्व पक्ष का कथन है कि इस सम्बन्ध में प्रयोजन की पूर्ति को लक्ष्य में रख कर मुख्य और प्रतिनिधि का चुनाव करना चाहिये ॥ ३९ ॥ यदि मुख्य द्रव्य अल्प हो प्रतिनिधि पर्याप्त हो तो भी मुख्य द्रव्य लेना महत्वपूर्ण है। अथवा मुख्य द्रव्य द्वारा प्रधान कर्मों की सिद्धि करनी चाहिये और प्रतिनिधि द्रव्य को बाद में होने वाले गौण हवनों में काम में लाना चाहिये ॥ ४७-४१ ।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

शेषाद्द्व्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥१॥
निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेत् ॥२॥
अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणात् ॥३॥

निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥४॥
सर्वैर्वा समवायात्स्यात् ॥५॥
निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ॥६॥
प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥७॥
अश्ववदिति चेत् ॥८॥
न चोदनाविरोधात् ॥९॥
अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ॥१०॥

हवन के लिये जो पुरोडाश रखा गया है वह समाप्त हो जाय तो यज्ञ-शेष के लिये रखे हुये पुरोडाशों से हवन करना चाहिये। क्योंकि वह इसी लिये होता है। शास्त्र में उसे इसी लिये कहा है। मुख्य उद्देश्य यज्ञ है और सब पुरोडाश उसी के लिये बनाये जाते हैं॥ १-३॥ पूर्वपक्ष का कथन है कि यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों को यज्ञ-शेष भक्षण करना चाहिये, ऐसा निर्देश पाया जाता है। इसका समाधान है कि यज्ञ-शेष सब लोगों को मिल कर भक्षण करना चाहिये। सभी लोग जो किसी रूप में यज्ञ में भाग लेते हैं उसके अधिकारी हैं॥ ४-६॥ यदि यह कहा जाय कि वह यजमान और ऋत्विजों को भक्षण करना चाहिये, तो वह विषय गौण है॥ ७॥ प्रधान यजमान पुरोडाश-भक्षण करे, यह वाक्य उप-लक्षण मात्र है॥७॥ पूर्व पक्ष का कथन है कि जिन यज्ञों पशु बलि होता है उनमें यज्ञ-शेष-भक्षण एक अनर्थ ही होगा। इसका समाधान है कि मांस-भक्षण का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। शास्त्रों में ऐसे पाप-कर्म का सर्वथा निषेध है। मांस भक्षण की बातें सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है॥८-९॥ पूर्व पक्ष है कि पुरोडाश सेंकने के कपालादिक का एक भाग टूट जाने पर प्रायश्चित करना चाहिये क्योंकि एक भाग से समस्त वस्तु का संयोग होता है?॥ १०॥ इसका उत्तर आगे देते हैं।

न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥११॥
स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थत्वेनानित्यत्वात् ॥१२॥

गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद् व्यपाश्रयः स्यात् ॥१३॥
भेदार्थमिति चेत् ॥१४॥
नाशेषभूतत्वात् ॥१५॥
अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ॥१६॥
क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्याऽवर्जनीयत्वात् ॥१७॥
दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ॥१८॥
अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥१९॥
तद्धविः शब्दान्नेति चेत् ॥२०॥

उपरोक्त शंका का उत्तर देते हुये कहते हैं कि एक भाग के विकारयुक्त होने पर प्रायश्चित अनावश्यक है सम्पूर्ण के नष्ट होने पर प्रायश्चित होना चाहिये। सब द्रव्य यज्ञार्थ होते हैं। एक भाग के नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञ में अयोग्य नहीं हो सकता। विकारादि गुण-दोष मुख्य नहीं, पदार्थ ही मुख्य है। इस लिये जब तक द्रव्य काम लायक हो उसके लिये प्रायश्चित का प्रश्न नहीं उठता॥ ११-१३ ॥ फिर शंका करते हैं कि विकार पदार्थ का नाश करने वाला होता है ? उत्तर है कि विकार अङ्गरूप होने से प्रायश्चित योग्य नहीं। बिल्कुल नष्ट हो जाने पर पदार्थ यज्ञ के अयोग्य होता है ॥१४-१६॥ इसी प्रकार शंका होती है कि पुरोडाश का एक भाग जल जाने पर प्रायश्चित करना चाहिये या नहीं ? तो इसका उत्तर भी यही है कि सब के दग्ध हो जाने पर प्राय-श्चित करना चाहिये एक भाग पर नहीं। क्योंकि ऐसा करने से तो यज्ञ के लिये कोई पुरोडाश नहीं मिल सकेगा। प्रत्येक पर कहीं न कहीं जलने का चिन्ह हो ही जाता है। शंका करते हैं कि विधान में तो कहा गया है कि पुरोडाश जलने पर प्रायश्चित किया जाय ? इसका उत्तर है कि वहाँ सबके जल जाने का आशय है एक अंश के जलने की बात नहीं है। उसका अर्थ यही है कि पुरोडाश सब जल जाय तो अन्य पुरोडाश द्वारा आहुति प्रदान करे॥ १७-१९॥ फिर शंका करते हैं कि विधान में तो

पुरोडाश द्वारा ही आहुति देने की बात है अन्य हवि का प्रयोग कैसे हो सकता है ? ॥२०॥

स्यादि ज्यागामी हविः शब्दस्तल्लिंगसंयोगात् ॥२१॥
यथाश्रुतीति चेत् ॥२२॥
न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥२३॥
होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥२४॥
उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ॥२५॥
पुनराधेयमोदनवत् ॥२६॥
द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात् ॥२७॥
पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ॥२८॥
चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि ॥२९॥
स प्रत्यामनेत्स्थानात् ॥३०॥

उत्तर है कि विधान में जो शब्द है उससे यज्ञ सम्बन्धी कर्म का बोध होता है जले हुये पुरोडाश से उसका आशय नहीं है ॥ २१ ॥ पूर्व-पक्ष कहता है कि यदि प्रातः संध्या के हवन में चूक हो जाय तो उसका प्रायश्चित पाँच प्याला चावल दान देकर करना चाहिये ? इसका उत्तर है कि हवन में चूकने से 'प्रत्ययवाय' दोष होता है । चावल दान देने से उसका प्रायश्चित नहीं होता ॥ २२-२३ ॥ अन्य यज्ञ शेष के समान हवन के पदार्थ और अभिषव (कुटे हुये सोम) का भक्षण दोनों प्रकार के (आहुति देने वाले तथा सोम को कूटने वाले) ऋत्विज कर सकते हैं ॥२४-२५॥ जैसे नियत समय पर भोजन न हो पाये तो उसे पुनः करना चाहिये, इसी प्रकार सूर्योदय के पूर्व अग्न्याधान न हुआ हो तो उसे फिर करना चाहिये । दोनों काल (प्रातः सायं) हवन करने से द्रव्य की उत्पत्ति होती है ॥ २६-२७ ॥ 'पंच शराव' कर्म 'सांनाय्य' के स्थान में प्रतिनिधि कहा गया है । अथवा 'पंच शराव' कर्म इन्द्रिय अगोचर परमात्मा के प्रति द्रव्य रूप में प्रेरणा देने का विधान है ॥ २८-२९ ॥ इसमें शंका है कि

'पंच शराव' कर्म को तो दर्शयाग का प्रतिनिधि कहा गया है ? ॥ ३० ॥ इसका उत्तर आगे देते हैं—

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥३१॥
विश्वजिद प्रवृत्तो भावः कर्मणि स्यात् ॥३२॥
निष्क्रयवादाच्च ॥३३॥
वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥३४॥
कालो वोत्पन्नसंयोगद्यथोक्तस्य ॥३५॥
अर्थापरिमाणाच्च ॥३६॥
वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्ग स्यात् ॥३७॥
कालस्तु स्यादचोदनात् ॥३८॥
अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥३९॥
अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥४०॥

'पंच शराव' का विधान अमावस्या को किया जाता है, अतः वह दर्शयोग का एक अङ्ग हो सकता है, उसका प्रतिनिधि नहीं हो सकता ॥३१॥ विश्वजित योग जो शत्रु को जीतकर किया जाता है। वह कर्मों में प्रवृत्त कराने वाला है। उसका कर्त्ता किसी के वशीभूत न होकर स्वतंत्र होता है और इससे इस याग का फल सर्वोपरि है ॥ ३२-३३ ॥ दर्शपूर्ण मास याग में व्रत करने में पूर्व पक्ष है कि वह बछड़ों के दूध पीने के समय करना चाहिये। समाधान है कि जब बछड़े दूध के लिये छोड़े जायें उस समय से यजमान को व्रत आरम्भ करना चाहिये। यहाँ 'वत्स' या बछड़ा शब्द व्यक्ति के लिये नहीं वरन् काल के लिये आया है। इसमें पूर्व पक्ष है कि श्रुति में "वत्से नामावास्यायाम्" का जो विधान है, उससे तो प्रतीत होता है निर्वत्स' ही व्रत के अङ्ग हैं ? उत्तर है कि उस विधान से व्रत के काल का ही निर्देश है, व्रत की विधि की यहाँ चर्चा नहीं है व्रत रूप कर्म के सम्बन्ध में वत्स की चर्चा निरर्थक है। 'वत्स' के लिये जो शब्द काम में आता है वह व्रत के लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता ॥ ३४-४० ॥

कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ॥४१॥
कालार्थत्वाद्वोभयाः प्रतीयेत ॥४२॥
प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् ॥४३॥
कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥४४॥
अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥४५॥
तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥४६॥
उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥४७॥

अब पूर्व पक्ष है कि यदि 'वत्स' शब्द से काल का अर्थ लिया जाय तो 'संनयत' (दूध और दही मिलाने का कर्म) से उस कर्म के काल को लेना चाहिये क्योंकि ये दोनों काल के अर्थ में ही पाये जाते हैं ? ॥४१-४२ ॥ इसका समाधान है कि जब रात्रि के समय हवनीय द्रव्य की शाखा तोड़ी जाती है तो उसी संध्याकाल से यजमान व्रत करे। जिस समय शाखा दोहन और कुशा के उखाड़ने का कार्य होता है उस समय व्रत से रहना चाहिये । प्रातः काल यजमान के व्रत करने का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि प्रातः काल तो दर्श-याग करना ही है । अतः उसे पहले दिन संध्या से ही व्रत करना चाहिये ॥ ४३-४७ ॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

पंचम पाद

अभ्युदये कालावराधादिज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे ॥१॥

अपनयो व विद्यमानत्वात् ॥२॥
तद्रूपत्वाच्च शब्दानम् ॥३॥
आतञ्चानाभ्यासस्य च दर्शनात् ॥४॥
अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥५॥

पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरस्य ॥६॥

साग्नाय्येऽपि तथेति चेत् ॥७॥
न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥८॥
लक्षणार्था शृतिश्रुतिः ॥९॥
उपांशुयाऽवचनाद्यथा प्रकृति वा ॥१०॥

पूर्व पक्ष है कि यदि दर्श यज्ञ भूल से अन्य समय में कर लिया जाय तो उसे 'पंच शराव' यज्ञ की भाँति पुनः करना चाहिये ? इसका उत्तर है कि ऐसी अवस्था में पुनः नई सामग्री लानी चाहिये, पर यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों को नये लाने की कोई बात नहीं है, क्योंकि दोष सामग्री में आया है, ऋत्विजों में तो कोई दोष आया नहीं। उक्त सामग्री के त्याग का हेतु यह है कि यदि प्रथम वार की सामग्री में कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो अन्य सामग्री का विधान उसके स्थान में होना चाहिये ॥ १-४ ॥ 'पंच शराव' यज्ञ में भी जब पात्रों में दोष आजाने से उनमें रखा दूध दूषित हो जाता है तब उसे त्याग कर नया दूध लेने की विधि है ॥३॥ पर 'सांनाय्य' में इस प्रकार की शंका करना अनावश्यक है, क्योंकि एक तो दही शीघ्र खराब नहीं होता और दूसरे वह हवि के लिये नहीं वरन् अन्य पदार्थों का संस्कार करने के काम में आता है ॥ ७-८ ॥ पूर्व पक्ष है कि उपाँशु-याग में सामग्री के दूषित होने की बात नहीं कही गई है। उसका प्रयोग सदैव यों ही हो सकता है ? उत्तर है कि द्रव्य का स्वभाव ही दूषित हो जाने का है। इस लिये उपांशु-याग में भी सामग्री को शुद्ध करने या बदलने की आवश्यकता हो सकती है ॥९-१०॥ इसका कारण आगे कहते हैं:—

अपनयो व प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ॥११॥
निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् ॥१२॥
प्रवृत्तो प्रापणामित्तस्य ॥१३॥
लक्षणमात्रन्निमितरत् ॥१४॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥
व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य ॥१७॥
विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥१८॥
अपाकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ॥१९॥
अभावाच्चेतरस्य स्तात् ॥२०॥

अधिक समय बीत जाने पर सामग्री में विकार उत्पन्न हो जाने पर उसे बदलना आवश्यक है क्योंकि यज्ञ में विकार-युक्त द्रव्यों का प्रयोग निषिद्ध है। जब द्रव्य काल प्रभाव से अन्य रूप में बदल जाता है तो उस को बदलना अनिवार्य है। निरुक्त में भी इस सम्बन्ध में जो शब्द दिया गया है उससे दूषित सामग्री त्याग-रूप सिद्ध होती है। यही बात अन्य उदाहरणों से ठीक प्रतीत होती है ॥११-१४॥ अश्मरथ आचार्य का कथन है कि अभ्युदय दृष्टि से जिस सामग्री को शुद्ध नहीं किया गया हो उसे शुद्ध करना चाहिये जैसे चावलों को साफ करने की आवश्यकता पड़ती है ॥१५॥ आलेखन आचार्य का कथन है सामग्री के ऊपर के भाग को निकाल देना चाहिए। समस्त सामग्री को त्यागने की आवश्यकता नहीं। पर समस्त सामग्री ही दूषित हो जाय तो उसे बिल्कुल त्याग देना चाहिए। इसका कारण यह है कि एक प्रकार की दूषित सामग्री का प्रयोग करने से अन्य सब अदूषित सामग्री भी अशुद्ध हो जाती हैं ॥१६-१८॥ जब दूसरी शुद्ध सामग्री बिल्कुल न मिले तो दूषित सामग्री को ही साफ करके, धो कर शुद्ध बना लेना चाहिए ॥१९॥ 'सांनाय्य' में दूध और दधि के मिलाने में विकार हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना आवश्यक है ॥२०॥

सान्नाय्यसंयोगात्सन्नयतः स्यात् ॥२१॥
औषधसंयोगाद्वोभयोः ॥२२॥
वैगुण्यान्नेति चेत् ॥२३॥

नातत्संस्कारत्वात् ॥२४॥
साम्युत्थाने विश्वजित्क्रीते विभागसंयोगात् ॥२५॥
प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥
आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥२७॥
दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८॥
द्वादशाहस्तु लिङ्गात्स्यात् ॥२९॥
पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

किसी विशेष औषधि के मिलने से सामग्री में दोष उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिये। इसमें शङ्का होती है कि औषधि विशेष को निकाल देने से कदाचित् सामग्री गुण रहित हो जायगी। इसका समाधान यह है कि औषधि विशेष को निकाल देने का अर्थ सामग्री का संस्कार करना नहीं है, वह जैसी की तैसी बनी रहती है ॥२१-२३॥ सत्र के लिये दीक्षित पुरुष यदि यज्ञ के समाप्त होने के पूर्व ही उठ जाय तो उसे 'विश्वजित' याग करना चाहिये। सत्र के प्रवृत्त होने से ही विश्वजित याग की सम्भावना पाई जाती है ॥२४-२५॥ यज्ञ कार्य के लिये यद्यपि सोम का ही विभाग करना लिखा है, पर यदि समस्त सामग्री का विभाजन कर लिया जाय तो कोई दोष नहीं है ॥२६॥ पूर्व पक्ष है कि ज्योतिष्टोम के लिये दीक्षित पुरुष उस कार्य में जितना चाहे उतना समय लगावे, शास्त्र में इसके लिये कोई कालावधि नियत नहीं है ? इसका उत्तर है कि विधान में ज्योतिष्टोम के लिये बारह दिन का नियम लिखा है, उसी का पालन करना चाहिये ॥२७-२८॥ 'गवामयन' नामक सत्र किसी भी पूर्णमासी को करना चाहिये। इसके लिये किसी विशेष पूर्णमासी का नियम नहीं है—यह पूर्व पक्ष है। इसके पश्चात् दूसरा पूर्व पक्ष है कि यह सत्र चैत्र की पूर्णमासी को करना चाहिये ॥२९-३०॥ इन दोनों का समाधान आगे के सूत्र में है।

आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात् ॥३१॥

माघो वैकाष्टकाश्रुतेः ॥३२॥
अन्या अपीति चेत् ॥३३॥
न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥३४॥
दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥३५॥
उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥३६॥
अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥३७॥
दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥३८॥
उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥
तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ॥४०॥

विधान में एकाष्टका एकादशी से व्रत करने का नियम है । यह एकादशी माघ में आती है । इसलिये 'गवामयन' सत्र माघ की पौर्णमासी से चार दिन पहले एकादशी को आरम्भ करना चाहिये ॥३१॥ इसमें शङ्का है कि अन्य कृष्ण पक्ष की एकादशी भी एकाष्टका कहलाती हैं । इसका समाधान यही है कि लोक में माघ की एकादशी ही 'एकाष्टका' करके मानी जाती है । दीक्षा के अपराध के सम्बन्ध में भी माघ की एकादशी को ही 'एकाष्टका' कहा है । दूसरा प्रमाण यह भी है कि 'एकाष्टका' एकादशी वह है जिसमें नये पत्ते और अंकुर निकलते हैं । ऐसी एकादशी भी माघ शुक्ल की ही होती है । इन चिन्हों के पाये जाने से यह 'गवामयन' के लिये प्रशस्त है ॥३२-३६॥ पूर्व पक्ष है कि यज्ञ के लिये दीक्षा लेने पर पुरुष को नियत कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये । इसका समाधान यह है कि दीक्षा एक मुख्य कार्य के लिये ग्रहण की जाती है जो कि उत्कृष्ट माना गया है । इसलिये उस काल में नियत कर्मों के करने की आवश्यकता नहीं है । दीक्षित पुरुष के लिये प्रतिहोम की भी आवश्यकता नहीं है । दीक्षा काल में शास्त्र में होम का विधान नहीं पाया जाता ॥३९-४०॥

कालप्राधान्याच्च ।।४१।।
प्रतिषिद्धाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ।।४२।।
प्रतिहोमश्चेत्सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ।।४३।।
प्रातस्तु षोडशिनि ।।४४।।
प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ।।४५।।
प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ।।४६।।
अतद्विकाराच्च ।।४७।।
व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ।।४८।।
विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ।।४९।।
स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ।।५०।।

अवभृथ इष्टि के लिये भी प्रतिहोम का निषेध है ।।४१।। यदि होम के लोप होने पर प्रतिहोम करे तो अग्निहोत्र सायंकाल को करे ।।४२।। षोडशी इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम करे ।।४३।। साधनों के मर्दन (छिन्न-भिन्न-खण्डित) हो जाने पर सब इष्टियों में प्रायश्चित करना चाहिये। यह पूर्व पक्ष है ? उत्तर है कि प्रायश्चित के प्रकरण में ही प्रायश्चित करना चाहिये। जहाँ उसकी आवश्यकता होती है वहाँ लिखा हुआ है ।।४४-४५।। सब इष्टियों में भेदन निमित्तिक विकार एक समान नहीं होते, इसलिये सब में प्रायश्चित विधान भी एक से नहीं हो सकते ।।४६।। जो पदार्थ आर्य-पुरुषों के लिये अयोग्य हो अर्थात् दूषित हो उसे जल में फेंक देना चाहिये ।।४७।। पूर्व पक्ष का कथन है कि उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का एक काल में अपच्छेद होने से प्रायश्चित नहीं होता। इसका उत्तर है कि यदि विधान में एक काल का उल्लेख किया होता तो प्रायश्चित न होता, पर निमित्त विद्यमान होने से प्रायश्चित आवश्यक है ।।४८-४९।। इस प्रकार अपच्छेद होने पर किसी एक प्रकार का प्रायश्चित होना चाहिये। क्योंकि दो प्रकार का प्रायश्चित सम्भव नहीं है ।। ५० ।।

तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ।।५१।।
प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ।।५२।।
न चैकसंयोगात् ।।५३।।
पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ।।५४।।
यद्य ुद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसंदद्याद्यथेतरस्मिन् ।।५५।।
अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वात् ।।५६।।

पूर्व पक्ष का कथन है कि यदि दोनों प्रकार का प्रायश्चित एक याग में न हो सके तो दो यागों में हो सकता है ? इसका उत्तर है कि उक्त प्रायश्चितों का एक ही याग से सम्बन्ध है। इसलिये ऐसे प्रायश्चित में सर्वस्व दक्षिणा का प्रायश्चित कथन किया गया है ।।५१-५३।। यदि प्रतिहर्ता के पश्चात् उद्गाता का अपच्छेद हो तो सर्वस्व दक्षिणा का प्रायश्चित होना चाहिये। यदि द्वादशाह आदि अहर्गण यागों में से जिस याग में उद्गाता का अपच्छेद हो, तो उसी की आवृत्ति करे ।।५६।।

।। पाँचवाँ पाद समाप्त ।।

षष्ठ पाद

सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तु ल्यकल्पा यजेरन् ।।१।।
वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् ।।२।।
न वाऽनारभ्यवादत्वात् ।।३।।
स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ।।४।।
न तत्प्रधानत्वात् ।।५।।
औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ।।६।।
अन्येनापीति चेत् ।।७।।
नैकत्वात्तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ।।८।।

सन्निपातात्तु निमित्तविघातं स्यात् बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्ट-
त्वाद्वसिष्ठनिर्वर्त्ये ॥९॥
अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत; स्वामित्वेनाभि-
सम्बन्धः ॥१०॥

एक कथन है कि यज्ञ-क्रिया के लिये जो १७ ऋत्विज लिये जाते हैं वे एक ही कल्प (गोत्र) के होने चाहिये जिससे यज्ञ-कार्य में विगुणता उत्पन्न न हो। इस पर पूर्व पक्ष की शङ्का है कि जिस प्रकार शास्त्र में मृतक को छूनेका निषेध है और फिर भी उसके सिरको उठाने को कहा गया है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न गोत्रों के ऋत्विजों से यज्ञ कराया जा सकता है ? इसका समाधान है कि विधान में कोई ऐसी बात नहीं मिलती। फिर पूर्व पक्ष का कथन है कि जैसे "औदुम्वरी" काष्ठ का यज्ञ में उपयोग कर सकते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न कल्प वालों को भी ऋत्विज नियुक्त कर सकते हैं ? यह कथन इस कारण ठीक नहीं कि 'औदुम्बरी' यज्ञ के लिये होती है और यज्ञ-कर्म का सम्बन्ध पुरुष से है ? फिर शङ्का करते हैं कि कपाल के समान 'औदुम्बरी' पदार्थ होती है। फिर शङ्का है कि भिन्न-भिन्न कल्पों को यज्ञ में अधिकार है तो अन्य यजमान से भी यज्ञ की सिद्धि हो सकती है ? इसका उत्तर है कि अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार कथन नहीं किया गया है। फिर शङ्का है कि यदि समान कल्प वालों का यज्ञाधिकार माना जाय तो फल का निमित्त ठीक नहीं रहता, क्योंकि यजमान भिन्न-भिन्न हैं ? इसका समाधान है कि यजमानों का सम्बन्ध यज्ञ से स्वामी रूप में होता है इससे फल प्राप्ति में बाधा नहीं पड़ती ॥९-१०॥

साम्नोः कर्मवृद्धयैकदेशेन संयोगो; गुणत्वेनाभिसम्बन्ध-
स्तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ॥११॥
वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥१२॥
अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ॥१३॥

अर्थानां च विभक्तत्वान्न तच्छ्रुतेन सम्बन्धः ॥१४॥
पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥१५॥
सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥१६॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥
ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ॥१८॥
वचनादिति चेत् ॥१९॥
न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥

उक्त प्रकर्ण में वृहत और रथन्तर साम का दृष्टान्त भी दिया जाता है, पर वह उपयुक्त नहीं है ॥११॥ अब 'कुलाय' नामक यज्ञ में भिन्न गोत्र वाले राजा तथा पुरोहित के अधिकार कहे जाते हैं। इसका उत्तर है कि विधान-वाक्य से ऐसा अर्थ प्रकट नहीं होता। दूसरा कारण यह भी है कि पुरोहित का याग ब्रह्म तेज की स्तुति करने वाला होता है और राजा का बल की, और जो दोनों हाथों को मिला कर अञ्जलि देने का दृष्टान्त दिया जाता है उसका उत्तर है कि होम एक हाथ से ही हो सकता है। इससे भी एक ही पुरोहित से हवन कराना सिद्ध होता है ॥१२-१५॥ पूर्व पक्ष है कि सत्र नामक यागों में सब वर्णों को यज्ञ-क्रिया का अधिकार है ऐसा शास्त्रीय प्रमाणों से विदित होता है? इसका उत्तर है कि क्षत्रिय और वैश्य वर्ण वालों के ऋत्विज होने का निषेध है, इससे सत्र का अधिकार ब्राह्मणों को ही है। फिर शङ्का है कि "ऋद्धिकामा सत्रमासरी न" वाक्य से प्रकट होता है ऐश्वर्य की समृद्धि चाहने वालों को सत्र करना चाहिये। ऐसी अभिलाषा वाले सभी वर्ण के होते हैं और उनको अधिकार है? इसका उत्तर है कि यह कथन यज्ञ के स्वामी से सम्बन्ध रखता है ऋत्विज से नहीं ॥१६-२०॥ इस पर आगामी सूत्र में शङ्का करते हैं।

गार्हपते वा स्यान्नामाविप्रतिषेधात् ॥२१॥

न वा कल्पविरोधात् ॥२२॥

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ।।२३।।
वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ।।२४।।
सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ।।२५।।
वैश्वामित्रस्य हौत्रनियमाद्भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ।।२६।।

विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ।।२७।।
सारस्वते च दर्शनात् ।।२८।।
प्रायश्चित्तविधानाच्च ।।२९।।
साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ।।३०।।

सत्र के अन्तर्गत जो 'गार्हपत्य' नामक कर्म होता है उसमें क्षत्रिय, वैश्य को भी अधिकार होना उचित है ? उत्तर है कि ऐसा करने से गोत्र का विरोध हो जाता है, हाँ, 'अहीन' नामक याग में अन्य वर्ण वाले भी यजमान होते हैं ।।२१-२३।। पूर्व पक्ष का कथन है कि वसिष्ठ गोत्र वालों का ही सत्र में अधिकार है, उन्हीं को यज्ञ का 'ब्रह्मा' नियत करना चाहिये । इसमें एक कथन यह भी है सत्र में सब ब्राह्मणों का समान अधिकार है ? इसका उत्तर है कि भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्र वालों का सत्र में अधिकार नहीं, विश्वामित्र गोत्र वालों का ही अधिकार है क्योंकि उन्हीं के होता होने का नियम पाया जाता है ।।२४-२६।। एक प्रश्न यह भी है कि "आहिताग्नि" (अग्नि का आधान करने वाले और "अनाहिताग्नि" (आधान न करने वाले) दोनों तरह के ब्राह्मणों को सत्र में अधिकार है ? इसमें एक युक्ति तो यह है 'सारस्वत' नामक सत्र में 'अनाहिताग्नि' वालों का कथन पाया जाता है और दूसरे प्रायश्चित के विधान पाये जाने से भी यही अर्थ निकलता है ? इसका समाधान यह है कि सत्र का अनुष्ठान दर्शपूर्णमास याग के पश्चात् कथन किया गया है जिसमें 'अग्न्याधान' कर्म होना आवश्यक है और यह कर्म अनाहिताग्नियों द्वारा नहीं हो सकता है ।।२७-३०।।

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥
सन्निवापं च दर्शयति ॥३२॥
जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्संदेहे यथाकामो प्रतीयते ॥३३॥
अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३४॥
प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥३५॥
पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृ नियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ॥३६॥
लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥३७॥
न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्वेज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥
इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ॥३९॥

उपरोक्त कथन में दोनों युक्तियों का समाधान यह है अग्नियों का आधान अपने-अपने स्वार्थ के लिये होता है और सब यजमानों की अग्नियों के मिलाप का श्रुतिवाक्य पाया जाता है ॥ ३१-३२ ॥ पूर्व-पक्ष है कि सत्र में आवश्यक होने पर अन्य यजमान के जुहू आदि पात्र लेकर कार्य सम्पादन किया जा सकता है ? इसका समाधान है कि नये पात्र लेने चाहिये। दूसरे यजमान के पात्र लेने का निषेध है, क्योंकि यदि वह इसी अवसर पर मर जाय तो उसके पात्र उसीके साथ जला देने का विधान है ॥ ३३-३४ ॥ फिर कहते हैं कि यजमान के मर जाने पर जो प्रायश्चित कथन किया गया है उससे भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती हैं ॥ ३५ ॥ पूर्व पक्ष है कि 'अध्वर कल्पादि' विकृत यागों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों को अधिकार कथन किया गया है। "सप्तदशौ वै वैश्यः" वाक्य में १७ सामधेनियों वाला वैश्य होता है। इसका समाधान यह है कि याग और सामधेनियों में अन्तर होता है। गुण के प्रति याग के प्रधान होने से वैश्यों का उसमें अधिकार नहीं हो सकता। वैश्य स्तोम में वैश्यों के

यजमान होने का स्पष्ट कथन पाया जाता है, इससे वह ठीक है ॥३६-४०॥

॥ षष्ठम पाद समाप्त ॥

सप्तम पाद

स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥
यस्य वा प्रभुः स्यादिरस्याऽशक्यत्वात् ॥२॥
न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्याविशिष्टत्वात् ॥३॥
अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ॥४॥
नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥५॥
शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥
दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ॥७॥
अशेषत्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥८॥
अपि वा शेषकर्म स्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥९॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

पूर्व-पक्ष है 'विश्वजित्' याग में यजमान को सर्वस्व दान करने का विधान है ? इसका समाधान है कि यजमान जिन वस्तुओं का स्वामी है उनके दान का है अन्य का नहीं। जैसे कई व्यक्ति स्त्री तक का दान कर देते हैं वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार राज्य की भूमि का दान नहीं किया जा सकता क्योंकि उस पर अन्य सम्बन्धियों पुत्र, पौत्र आदि का भी अधिकार है। अश्वों का भी दान नहीं करना चाहिये क्योंकि वे युद्ध के लिये अनिवार्य है ॥ १-४ ॥ इस पर शंका है कि जब 'आत्मदान' देने तक का विधान है तब घोड़ों आदि के दान में क्या बाधा है ? इसका उत्तर है कि आत्मा नित्य पदार्थ है, उसकी अनित्य पदार्थों से तुलना नहीं की जा सकती और न किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ॥५॥ शूद्रों को भी उक्त यज्ञ में दान देने का अधिकार है ॥६॥ यह सब दान

दक्षिणा काल में ही देना चाहिये । यहाँ शंका है कि क्या दक्षिणा काल में याग की समाप्ति हो जाती है ? इसका उत्तर है कि नहीं, दक्षिणा के बाद भी पूर्णाहुति आदि कर्म शेष रहते हैं, जिनका प्रमाण श्रुति में मिलता है ॥ ७-१० ॥

अशेषं तु समञ्जसमादाने शेषकर्म स्यात् ॥११॥
नादानस्यानित्यत्वात् ॥१२॥
दीक्षासु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ॥१३॥
अहर्गणे च तद्धर्मः स्यात्सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥
द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥१५॥
अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१६॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥
विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥
अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥
अनुग्रहाच्च पादवत् ॥२०॥

पूर्व-पक्ष है कि यज्ञ-कर्म के पूर्ण होने पर समस्त बची हुई सामग्री को हवन कर देना चाहिये । इसी से यज्ञ-कार्य की पूर्ति होती है ? इसका उत्तर है कि उसमें जो पदार्थ भक्षण योग्य हों उन्हें यज्ञ शेप के रूप में भक्षार्थ रख कर अन्य सामग्री का हवन कर देना ठीक है । शंका है कि यज्ञ-शेष में सम्पूर्ण सामग्री का हवन कर देना लिखा है और यज्ञ-शेप का भक्षण करना भी लिखा है, इन परस्पर विरोधी बातों का क्या कारण है ? उत्तर है कि यज्ञ-शेष भक्षणार्थ ही होता है, पूर्णाहुति उससे अन्य सामग्री की ही दी जाती है ॥ ११-१४ ॥ 'अहर्गण अष्टरात्र याग' विश्व-जित् याग के समान होता है, अतः उसमें भी सर्वस्वदान की दक्षिणा दी जानी चाहिये । इस पर शंका है कि जैसे ज्योतिष्टोम याग में बारह सौ रुपये दक्षिणा का कथन है वैसा ही इसमें किया जाय ? इसका उत्तर है कि अहर्गण याग ज्योतिष्टोम से मिलता हुआ नहीं है, विश्वजित याग से

मिलता है, अतः उसीका अनुकरण करना चाहिये। उसके विवरण से भी ऐसा ही प्रामाणित होता है ।। १५-१७ ।। पूर्व पक्ष है कि विकार रूप अहर्गण याग दोनों अवस्थाओं में हो सकता है अर्थात् चाहे बारह सौ रुपया हो वा कम हो। उत्तर है कि बारह सौ से कम वाला उक्त याग नहीं कर सकता। शास्त्र में बारह सौ या अधिक का भाव पाया जाता है।। २० ।।

अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात् ।।२१।।
कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसङ्ख्यानात् ।।२२।।
अनियमोऽविशेषात् ।।२३।।
अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरैः सन्निधानात् ।।२४।।
अर्थवादश्च तदर्थवत् ।।२५।।
परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ।।२६।।
तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ।।२७।।
निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्पञ्चावत्तवत् ।।२८।।
विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ।।२९।।
अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।।३०।।

पूर्व पक्ष का कथन है कि विधान-वाक्य में 'अपरिमित' धन देने का उल्लेख है, इस लिये किसी नियत संख्या का क्या प्रयोजन है ? उत्तर है कि अपरिमित का आशय बारह सौ के समान संख्या धन से ही है, इस पर फिर शंका है कि 'तुल्य' कह देने से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता इसलिये बारह सौ और अपरमित का समान अर्थ करना ठीक नहीं है ? इसका उत्तर है कि 'अपरिमित' शब्द असंख्यात का द्योतक नहीं है। क्योंकि शास्त्र वाक्य है कि "शतदेयं, सहस्रदेयं, अपरिमितं देयं।" इससे बहुत धन का आशय ही निकलता है। अर्थात् विश्वजित याग बहुत साधन सम्पन्न ही कर सकते हैं अन्य नहीं। इस 'अपरिमित' शब्द में अर्थ-

वाद का भाव भी पाया जाता है, जैसे निन्दा-स्तुति को कुछ बढ़ा चढ़ाकर कह दिया जाता है, वैसे ही यह भी है ।। २१-२५ ।। पूर्व सृष्टि का उल्लेख करके कथन है कि उसमें भी मनुष्यों के धर्म वर्तमान की भाँति ही थे जैसे "सदाचारी पुरुष सौ वर्ष जीवित रहता है।" इस पर पूर्व पक्ष का कथन है कि पूर्व सृष्टि के मनुष्यों का उदाहरण ग्रहण करने का निषेध है ? इसका उत्तर है कि जब पूर्व सृष्टि के मनुष्यों के देह पंच भौतिक ही थे तो उनको मनुष्य-धर्मा मानना ही ठीक है उन्हें अलौकिक कल्पना करना अनावश्यक है । वेदों के वर्णन से भी ऐसा ही सिद्ध होता है ।।२६-३०।।

सहस्त्रसंवत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु ।।३१।।
अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ।।३२।।
नासामर्थ्यात् ।।३३।।
सम्वन्धादर्शनात् ।।३४।।
स कुल्यः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ।।३५
अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ।।३६।।
विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्तरः स्यादित लावुकायनः ।।३७।।
संवत्सरो वा विचालित्वात् ।।३८।।
सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ।।३९।।
अहानि वाऽभिसङ्ख्यात्वात् ।।४०।।

सहस्रों वर्ष की आयु आदि का कथन करना अर्थवाद है जैसे कहीं कहा है कि पूर्व कल्प में लोगों की आयु सहस्रों वर्ष की थी, किन्तु ऐसी आयु मनुष्यों की नहीं हो सकती । अगर उक्त मत को सत्य मानें तो वे लोग इन्द्रादि की तरह देव योनि के मानने पड़ेगे । पर शास्त्र में उस समय के लोगों के भी अध्ययन-अध्यापन का जिक्र पाया जाता है जिससे वे मनुष्यधर्मा ही ज्ञात होते हैं। देवताओं में मनुष्य का स्वभाव पाया जाता ।।३१-३३।। अग्नि, वायु आदि जड़ देवों में अध्ययन-अध्यापन का कथन किस प्रकार किया जा सकता है । कार्ष्णाजिनि आचार्य का

मत है कि जो सहस्र वर्ष की आयु लिखी है वह एक कुल या वंश की है, उसका आशय एक व्यक्ति से नहीं है। इस पर पूर्व पक्ष का कथन है कि शास्त्र वाक्य में जो 'कृत्स्न' शब्द आया है उससे एक व्यक्ति का ही आशय निकलता है ? ॥३४-३६॥ लावुकायन ऋषि का मत है कि सहस्त्र वर्ष के अध्ययन का आशय गौण है, वास्तव में उसका अर्थ बहुत अधिक समय तक अध्ययन करते रहने से है। दूसरा समाधान यह भी है कि "संवत्सर" शब्द एक अर्थ का वाचक नहीं है। कहीं उसका अर्थ वर्ष का होता है, कहीं ऋतुओं का और कहीं दिनों का। पूर्व पक्ष का कथन है कि उक्त वाक्यों में मनुष्यों की पद्धति के अनुसार मानवीय-वर्ष का अर्थ ही लेना चाहिये ? इसका समाधान यह कि 'संवत्सर' दिन के अर्थ में भली प्रकार आता है क्योंकि एक दिन में छैओं ऋतुओं के वर्तने का वर्णन पाया जाता है ॥ ३७-४० ॥

॥ सप्तम पाद समाप्त ॥

अष्टम पाद

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्यसर्वशेषत्वात् ॥१॥
इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥२॥
उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥३॥
स सर्वेषामविशेषात् ॥४॥
अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ॥५॥
जपो वाऽनग्निसंयोगात् ॥६॥
इष्टित्वेन संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात् ॥७॥
उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारम्याग्निसंयोगात् ॥९॥
पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥१०॥

प्रजा की कामनार्थं 'चतुर्होत्र' नामक होम अपूर्व होने पर भी पवमान इष्टि का साध्य होने से संस्कृताग्नि में ही कराया जाय, यह पूर्व पक्ष है ? समाधान है कि इष्टि रूप से जो स्तुति की जाती है उससे प्रकट होता है कि चतुर्होत्र का असंस्कृत अग्नि में करना चाहिये। फिर शंका है कि यदि उसे असंस्कृत अग्नियों में किया जाय तो फिर विधान की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि उपरोक्त होमों का उपदेश अपूर्व विधि से दिया गया है ? ॥१-३॥ अन्य शंका है कि उपरोक्त विधि तो अंगभूत-अनङ्गभूत दोनों तरह के होमों का विधान करती है ? उत्तर है कि जो कर्म यज्ञ के अङ्ग नहीं है वे अनाहिताग्नियों से होते ही हैं। फिर शंका है कि अनाहिताग्नियों की इष्टि का कथन तो केवल अर्थवाद है, उसका अग्नि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता ?उत्तर है कि इष्टि के रूप में वर्णन किये जाने से वह होम ही है कोरा अर्थवाद नहीं है, दूसरे असंस्कृताग्नि होम करने का विधान पाया जाता है ॥ ४-७ ॥ पूर्व पक्ष कहता है कि जैसे पितृयज्ञ को आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं, वैसे चतुहोम कर्म को दोनों ही प्रकार के पुरुष कर सकते हैं ? इसका समाधान है कि चतुर्होम अनाहिताग्नि में ही किया जाता है, उसी अग्नि से उक्त होमों का सम्बन्ध है। पितृ-यज्ञ में तो आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों से सम्बन्ध के वचन पाये जाते हैं, इसलिये उसका दृष्टान्त चतुर्होम में नहीं लग सकता ॥ ८-१० ॥

उपनयन्नाधीत होमसंयोगात् ॥११॥
स्थपतिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥१२॥
आधानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥
अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ॥१४॥
श्राद्धवदिति चेत् ॥१५॥

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥
सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥
सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१८॥
पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ॥१९॥
स्थपतीष्टिः प्रयाजवदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत् ॥२०॥

पूर्व पक्ष है कि उपनयन काल में आहिताग्नि में हवन करे क्यों कि उसका होम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है ? इसका समाधान है कि उपनयन कर्म 'स्थपति' इष्टि के समान लौकिक अग्नि में ही करने चाहिये क्योंकि उनका उद्देश्य विद्याध्ययन में प्रवृत होना है और अग्न्याधान का अधिकार विद्याध्ययन के वाद प्राप्त होता है। दूसरा कारण यह भी है अग्न्याधान का अधिकार स्त्रीयुक्त को ही है ॥ ११-१३ ॥ एक शंका यह है कि जो अग्न्याधान के पश्चात् भार्या ग्रहण करता है वह अकर्म है ? दूसरी शंका यह है कि श्राद्ध कर्म के समान उपनयन सम्बन्धी हवन आहित और अनाहित दोनों अग्नियों में किया जाता है ? इनका समाधान है कि उक्त प्रकार दो भार्याओं का विवाह निषिद्ध माना जाता है। सब प्रकार के प्रयोजनों के लिये होने से स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है, उसका उद्देश्य केवल प्रजोत्पत्ति नहीं हैं। सोम पीने वाला (वैदिक धर्मावलम्बी) दूसरी भार्या की अभिलाषा नहीं रखता ॥ १४-१. ॥ पितृयज्ञ अहिताग्नि (ब्राह्मण आदि) और 'अनाहिताग्नि' (शूद्र आदि) दोनों का कर्तव्य है, इसलिये उसे दोनों तरह से करने का विधान है ॥१९॥ स्थपति इष्टि प्रयाज के समान अग्न्याधान के आश्रय से होती है। इससे यज्ञ के आभिप्राय वाली होने से आहिताग्नि से सम्बन्धित है ॥ २० ॥

अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ॥२१॥
अवकीर्णि पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ॥२२॥

उदगयनपूर्वपक्षाहः पुण्याहेषु देवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ।।२३।।
अहनि च कर्मसाकल्यम् ।।२४।।
इतरेषु तु पित्र्याणि ।।२५।।
याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ।।२६।।
नियतं वाऽर्थवत्त्वात्स्यात् ।।२७।।
तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ।।२८।।
अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ।।२९।।
पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ।।३०।।

उक्त कथन पर पूर्व पक्ष का मत है कि उक्त इष्टि का अनुष्ठान लौकिक अग्नि में होना चाहिये, क्योंकि अग्न्याधान कर्म सब के लिये नहीं है ?।।२१।। जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य व्रत भङ्ग हो जाय उसे गर्दभ का स्पर्श करके 'अवकीर्णि इष्टि' का होम अनाहिताग्नि में करना चाहिये ।।२२।। चूड़ाकरण आदि कर्म पवित्र दिनों में किया जाय, क्योंकि स्मृति ग्रन्थों में ऐसे देव कर्मों को शुभ दिनों में करने का आदेश है। इस कर्म को दिन के समय ही करना चाहिये ।।२४-२५।। पूर्व पक्ष है कि भिक्षा और सोम का क्रम सब कालों में होना चाहिये, जैसा कि लोक-व्यवहार देखा जाता है ? इसका समाधान है कि भिक्षा आदि का काल नियत है। यदि इन कर्मों को नियमपूर्वक न किया जाय तो ये स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हो सकते हैं ।।२७-२८।। अब पशुओं की रक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हैं कि वेद के 'पशूनपाहि' मन्त्र में पशु रक्षा का कोई विशेष नियम नहीं है, अर्थात् सब प्रकार के पशुओं की रक्षा का उपदेश किया गया है ।।३०।।

छागो वा मन्त्रवर्णात् ।।३१।।
न चोदनाविरोधात् ।।३२।।
आर्षेयवदिति चेत् ।।३३।।

न तत्र ह्यचोदितत्वात् ॥३४॥
नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात्॥३५॥
अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ॥३६॥
न वा प्रयोगसमवायित्वात् ॥३७।
रूपालिङ्गाच्च ॥३८॥
छागेन कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥३६॥
रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥४०॥
विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ॥४१॥
स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥४२॥
जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥४३॥

इस में पूर्व पक्ष की शङ्का है कि बकरे को मार कर हवन करने का तो वेद में आदेश है ? इसका समाधान है कि यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह उक्त वेद मन्त्र का विरोधी है ॥३१-३२॥ फिर शङ्का है कि 'आर्षेयं वृणीते' वाक्य के समान उक्त मन्त्र का आशय गौ आदि विशेष पशुओं की रक्षा से ही है। सब पशुओं से उसका सम्बन्ध नहीं ? इसका उत्तर है कि वेद मन्त्र में किसी विशेष पशु का उल्लेख नहीं है वरन् उसका आशय पशु मात्र से है ॥३३-३४॥ फिर शङ्का है कि उक्त मन्त्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है, पर छाग एक विशेष पशु है, इससे उसकी गिनती उनमें नहीं हो सकती ? इसका उत्तर है कि वेद के आदेश में पशुओं में भेद नहीं किया गया है। वहाँ स्पष्ट कहा है "गौ मार्हिसी, अविमार्हिसी ना हिंसीरेकशफम्" (गाय मत मारो, भेड़ को मत मारो, खुर वाले पशुओं को न मारो) ॥३५-३६॥ फिर शङ्का करते हैं कि 'छाग' के तो नाम से ही उसे मारने का अर्थ सिद्ध होता है, "यागार्थंछिद्यतेति छागः" अर्थात् जो याग के लिये काटा जाय वह छाग है ? इसका उत्तर है कि उक्त कथन गलत है। उसका अर्थ बकरे से

नहीं लगाया जा सकता। वरन् यज्ञ के लिये जो पदार्थ छेदे-काटे जाते हैं वे 'छाग' संज्ञा वाले हैं। रूपों में भिन्नता होने से 'छाग' से कोई जाति का आशय ग्रहण नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यज्ञ में पशु-हवन-रूप विकार इष्ट नहीं। ईश्वरीय ज्ञान वेदों में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती। वेदों में अधिकांश जगह 'छाग' का प्रयोग यौगिक अर्थ में हुआ है और इस वर्णन से उसे कोई पशु-विशेष नहीं माना जा सकता ॥३७-४१॥ यह भी कह सकते हैं कि 'छाग' एक विशेष प्रकार की वनस्पति या औषध का नाम है जो हवन की सामग्री में पड़ती है। इससे भी वह बकरा सिद्ध नहीं होता ॥४२-४३॥

[इस 'अधिकार-अनधिकार' शीर्षक षष्ठम् अध्याय में यज्ञ-क्रिया सम्बन्धी अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के साथ ही कई विशेष महत्वपूर्ण समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। जैसे प्रथम पाद में ही स्त्रियों के यज्ञाधिकार का प्रश्न उठाया है और विरोधी पक्ष की ओर से यह आपत्ति उपस्थित की गई है कि स्त्रियाँ तो बेची और खरीदी जाती हैं, उनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती, इसलिये वे यज्ञ कार्य जैसे धन-साध्य कर्म को कैसे कर सकती हैं? पर मीमांसाकार ने सिद्ध कर दिया है कि स्त्री को शास्त्रों ने स्पष्ट शब्दों में अर्धाङ्गिनी और सहधर्मिणी घोषित किया है, अतः पति के धन में उसका भी स्वामित्व रहता है और वह यज्ञ की पूर्ण अधिकारिणी है। द्वितीय पाद में कर्म करने में पुरुष की स्वाधीनता का विवेचन बहुत उपयुक्त है। जो लोग भाग्य को दोष लगा कर अपने दोषों पर पर्दा डालना चाहते हैं उनको मीमांसाकार ने बहुत फटकारा है। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है मनुष्य पूर्व कर्मों का फल (प्रारब्ध) भोगने में परतन्त्र अवश्य है, क्योंकि वह जो कुछ भी बुरा कर्म करता है उसका दण्ड तथा जो भला कर्म करता है उसका पुरस्कार इस लोक और परलोक में अवश्य पायेगा। पर वर्तमान जीवन में नवीन कर्म करने में वह पूर्णतया स्वतन्त्र है और अपने भावी जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है।

साथ ही उन्होंने ६-२-१२ में यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया है एक व्यक्ति के कर्म का फल दूसरा नहीं पा सकता। जैसे लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति द्वारा कमाया धन दूसरे अमुक व्यक्ति को मिल गया। पर या तो उसे ऐसा लाभ अपने किसी पुराने कर्म के फलस्वरूप मिला है और यदि उसने छल कपट और जबर्दस्ती वह धन प्राप्त किया है तो अवश्य ऐसा कोई कारण पैदा हो जायगा जिससे धन पा जाने पर भी वह उसका उपभोग न कर सकेगा, उससे किसी तरह का सुख नहीं पा सकेगा। यदि ऐसा अन्धेरखाता होता तो ईश्वर के अटल नियमों में बाधा पड़ जाती और सब लोग ईमानदारी और परिश्रम के मार्ग को छोड़ कर ऐसा ही चालाकी और बेईमानी का मार्ग अपना लेते। इसके अतिरिक्त इस कथन से एक सिद्धान्त यह भी प्रकट होता है कि जो लोग दूसरों से धार्मिक कृत्य कराके उसका पुण्य अपने लिये समझ लेते हैं, वह भी एक भ्रम है। मनुष्य को उसी कर्म का फल प्राप्त हो सकता है जिसे वह स्वयं श्रद्धा और परिश्रमपूर्वक करेगा।

दान देते समय विवेक से भी काम लेने का उपदेश ६-७-२, ३, ४ में दिया गया है। 'विश्वजित् याग' में सर्वस्व दान का विधान है, पर दर्शनकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो लोग उसमें स्त्री, राज्य की भूमि, सेना आदि का समावेश भी कर लेते हैं वे मूर्ख हैं। सर्वस्व दान का अर्थ अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति और उपयोग के पदार्थों से ही है। पर यदि हम स्त्री को भी अपनी सम्पत्ति समझ कर दान दे दें तथा अपने परिवार के अन्य व्यक्तियों के निर्वाह के साधनों—भूमि, जायदाद आदि को भी पण्डा जी को दे डालें तो यह अज्ञानता का ही द्योतक होगा।

यज्ञों में मांस के प्रयोग का प्रश्न बड़ा विवादग्रस्त है। यह तो मानना पड़ेगा कि बीच के समय में अज्ञान अथवा स्वार्थ के कारण यज्ञों में पशुओं को मारने की प्रथा प्रचलित हो गई थी और किसी-किसी यज्ञ में तो इतने पशु मारे गये थे कि नदियों का पानी कोसों तक लाल

हो गया था। पर प्रश्न यह है कि यह प्रथा वास्तव में शास्त्रीय है अथवा उस समय के कुछ स्वार्थ-लोलुप तथा धूर्त पुरोहितों ने शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ करके यह दूषित कर्म प्रचलित करा दिया था ? मीमांसादर्शन का कथन है कि यज्ञ-कर्म वेदों के विधानानुसार किया जाता है, उसमें मांस का प्रयोग कदापि विहित्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में अष्टम पाद के अन्तिम बारह सूत्रों में यह विवाद उठाया गया है कि वेदों में जो पशु-हिंसा का निषेध किया गया है, उसका आशय गाय, भैंस बड़े और उपयोगी पशुओं से है। बकरा तो उस तरह का पशु ही नहीं है, उसका यज्ञ में काटना अनुचित नहीं ? पर दर्शनकार ने बराबर इसी बात पर जोर दिया है कि वेदों के 'पशून् माहिंसी' वाक्य में पशुओं में कोई श्रेणी भेद या अन्य प्रकार का भेद भाव नहीं किया गया है, अतः प्रत्येक पशु की हिंसा करना निषिद्ध है । फिर यज्ञ जैसे पवित्र और आत्म-कल्याण के लिये किये जाने वाले धर्मकृत्य में तो हिंसा का ख्याल भी न करना चाहिये। उस समय तो जीवमात्र के प्रति कल्याण और आत्म-भाव की भावनायें रखने से ही सद्परिणाम की प्रति हो सकती है।

मांस-व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुये इसके अन्य पहलुओं पर भी विचार करना आवश्यक है। यह तो स्पष्ट है कि शास्त्रों में मांस को रजोगुण उत्पन्न करने वाला माना गया है और इसमें भी सन्देह नहीं कि वह बहुत शीघ्र सड़ने-गलने वाला पदार्थ है, जिससे उसकी प्रकृति शीघ्र ही तामसी बन जाती है। ऐसे आहार का समर्थन कोई भी सात्विक वृत्ति वाला—आध्यात्मिकता की अभिलाषा रखने वाला नहीं कर सकता। पर साथ ही हम इससे भी इनकार नहीं कर सकते कि संसार में अधिकांश प्रदेशों में मांस का प्रयोग सदा होता रहता है और अब भी यदि दुनियांभर की जनसंख्या की दृष्टि से हिसाब लगाया जाय तो मांस का सर्वथा त्याग करने वालों की गिनती सौ में से एक या दो ही ठहरेगी। अन्य जातियों तथा देशों में तो इसका कोई प्रतिबन्ध

है ही नहीं, हिन्दुओं में भी तीन चौथाई से अधिक व्यक्ति न्यूनाधिक परिमाण में माँस का प्रयोग करने वाले हीं हैं।

इसके अतिरिक्त इसका सम्बन्ध देश, काल और परिस्थिति से भी है। बहुत से प्रदेश ऐसे हैं जहाँ अन्नादि की पैदावार बहुत कम है और वहाँ के निवासी अधिकांश में शिकार द्वारा ही जीवन-यापन करते हैं। एक जमाना भी ऐसा था जब कि पृथ्वी पर कृषियोग्य भूमि कम थी, ज्यादातर भाग जङ्गलों, झीलों आदि से भरा हुआ था। उस समय भी जङ्गल के जानवरों का शिकार स्वाभाविक माना जाता था। कभी-कभी अकाल या लम्बे युद्धों आदि के फलस्वरूप ऐसी स्थिति आ जाती थी कि मनुष्य को विवश होकर ऐसे निषिद्ध पदार्थ का उपयोग करना पड़ता था, जैसे पौराणिक कथाओं के अनुसार अकाल के समय विश्वामित्र ऋषि ने कुत्ते का मांस खा कर प्राण-रक्षा की। इसलिये यदि किसी प्रदेश के निवासी, किसी जमाने में अन्नादि के अभाव से माँस का प्रयोग करने लग गये हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसी विवशता को शास्त्र में क्षम्य माना गया है।

पर जब हम अध्यात्म, आत्मोत्कर्ष की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मांस का प्रयोग किसी भी तरह धर्म का साधक नहीं बाधक ही सिद्ध होगा। इससे निर्दयता, कठोरता, स्वार्थपरता के भावों को प्रोत्साहन मिलेगा और मनुष्य की मनोवृत्ति सात्विकता से हट कर राजसी और तामसी बनने लगेगी। यह बात आत्म-कल्याण की दृष्टि से कदापि माननीय नहीं हो सकती। अतएव धार्मिक कृत्यों में मांस को स्थान दिलाने का समर्थन कोई बुद्धिमान और विचारशील व्यक्ति नहीं कर सकता।]

॥ अष्टम पाद समाप्त ॥

॥ षष्ठम अध्याय समाप्त ॥

सप्तमोऽध्याय

[पिछले छः अध्यायों से पाठकों को मीमांसा-शास्त्र के उद्देश्य, सिद्धान्त तथा प्रतिपादन की प्रणाली का परिचय मिल गया होगा। यह श्रुति को सर्वापेक्षा अधिक मान प्रदान करता है और प्रत्येक कर्म वेदानुकूल हो, इस पर बहुत अधिक जोर देता है। प्रथम अध्याय में धर्म-प्रमाण पर विचार किया गया है। दूसरे में कर्म तथा धर्मा-धर्म के भेद पर दृष्टिपात किया है। तीसरे में शेष तथा अंगांङ्गिभाव तथा चौथे में क्त्वर्थ और पुरुषार्थ सम्बन्धी कर्मों के भेदों पर विचार किया गया है। पाँचवे में श्रुति के अर्थ करने में किस क्रम को काम में लाया जाय और छठे में यज्ञ-कार्य में व्यक्तियों तथा क्रियाओं का अधिकार की दृष्टि से विवेचन किया गया हैं। इस प्रकार मीमांसा-दर्शन का 'पूर्वषष्ठक' (प्रथम छः अध्याय) समाप्त हो जाता है।

सातवे और आठवे अध्यायों में सामान्य और विशेष 'अतिदेश' पर विचार किया गया है। नौवे में यज्ञ-क्रियाओं के महत्व पर कारण की दृष्टि से विचार किया है जिसका नाम 'ऊह' है। दशवां अध्याय 'वाध' ग्यारहवा 'तंत्र' और बारहवा 'प्रसंग' विषयक है।

मीमांसा-दर्शन में पशु-याग का प्रश्न बड़ा जटिल है और इसके सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों में ही नहीं सनातन धर्म के बड़े-बड़े विद्वानों तथा पंडितों में भी तीव्र मतभेद देखने में आता है। अनेक उच्च कोटि के विद्वान इस दर्शन में पशु वलिदान का प्रतिपादन मानते हैं जब कि अन्य विद्वान् उन वाक्यों का अर्थ पशुओं के दान का ही लगाते हैं। हमने भी इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर मांस-निषेध का प्रतिपादन और समर्थन किया है। आगामी अध्यायों में भी ऐसे विवादग्रस्त विषयों की प्रचुरता

है जिनके विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग तरह के अर्थ लगाये जाते हैं। साथ ही इन अध्यायों में यज्ञ में की जाने वाली तरह-तरह की छोटी-बड़ी क्रियाओं और रीतियों के सम्बन्ध में ऐसी पारिभाषिक शब्दों से भरी हुई भाषा में विवेचन किया गया है कि जिसका समझ सकना एक अच्छे-पढ़े लिखे व्यक्ति के लिये भी अत्यन्त कठिन है। वर्तमान समय से सर्वथा भिन्न, पृथक विषय की चर्चा होने से पाठकों की रुचि भी उस तरफ कम जाती है। पिछले छः अध्यायों की टीका के अध्ययन करने से इस बात का पूरा आभास मिल जाता है। इसलिये आगे के अध्यायों का केवल मूल ही छाप रहे हैं टीका का अंश उसमें से निकाल दिया है। इसके बजाय हम इन अध्यायों के अन्त में उपसंहार के रूप में समस्त दर्शन का आशय क्रमबद्ध रूप से देने का प्रयत्न करेंगे जिससे पाठक इसके वास्तविक रूप और आशय को समझ सकें।]

प्रथम पाद

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुखभेदे यथाविकारं भावः स्यात् ।।१।। उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ।।२।। चोदना शेषभावाद्वा ताद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ।।३।। सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत् ।।४।। अविभागात्तु नैवं स्यात् ।।५।। द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ।।६।। उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्थात्ततश्च-कर्मभेदः स्यात् ।।७।। यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ।।८।। अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्यः कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ।।९।। स्मृतिरिति चेत् ।।१०।। न पूर्ववत्त्वात् ।।११।।अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ।।१२।। समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाविकारः स्यात् ।।१३।। श्येनस्येति चेत् ।।१४।। नासन्निधानात्

॥१५॥ अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचक समानं स्यात् ॥१६॥ पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात् ॥१७॥ सर्वस्य वैकशब्द्यात् ॥१८॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥१९॥ विहिताम्नानान्नेति चेत् ॥२०॥ नेतरार्थत्वात् ॥२१॥ एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥२२॥ एककपालनां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमपरिवृत्तिदर्शनादवभृथे च सकृद् द्व्यवदानस्य वचनात् ॥२३॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ॥१॥ शब्देस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात्पृथग्भावात्क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ॥२॥ स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ॥३॥ शब्दमात्रमिति चेत् ॥४॥ नोत्पत्तिकत्वात् ॥५॥ शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ॥६॥ स्वरस्येति चेत् ॥७॥ नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ॥८॥ स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥९॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥ अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ॥११॥ शब्दानां चासामञ्जस्यम् ॥१२॥ अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः ॥१३॥ अद्रव्यं चापि दृश्यते ॥१४॥ तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासामलौकिको विधानात् ॥१५॥ तस्मिन्संज्ञाविशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥१६॥ योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥१७॥ अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनिः ॥१८॥ ऐकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥१९॥ स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथालोके ॥२०॥ शब्दानाञ्चसामञ्जस्यम् ॥२१॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात्॥१॥ अपूर्वे वापि भागित्वात् ॥२॥ नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥३॥ प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात्क्रियाभिधानं स्यात्तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥४॥ अपि वा सर्वत्र कर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ॥५॥ विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वात् ज्योतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ॥६॥ षडहाद्वा तत्र हि चोदनाः ॥७॥ लिङ्गाच्च ॥८॥ उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ॥९॥ द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥१०॥ न ह्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ॥११॥ तथावभृथः सोमात् ॥१२॥ प्रकृतेरिति चेत् ॥१३॥ न भक्तित्वात् ॥१४॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥ द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात्: पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ॥१६॥ गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात् ॥१७॥ निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥१८॥ प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत् ॥१९॥ उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२०॥ प्राकृतं वाऽनामत्वात् ॥२१॥ परिसङ्ख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥२२॥ प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥२३॥ मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥२४॥ औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥२५॥ स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात् ॥२६॥ चोदनासामान्याद्वा ॥२७॥ कर्मजे कर्म यूपवत् ॥२८॥ रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥२९॥ विशये लौकिकः स्यात्सर्वार्थत्वात् ॥३०॥ न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥३१॥ तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ॥३२॥ संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥३३॥ भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधानत्वात् ॥३४॥ कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ॥३५॥ अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ॥३६॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ।।१।। स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ।।२।। वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ।।३।। लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ।।४।। अपिवाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानु वादवचनानि स्युः ।।५।। मिथो विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ।।६।। भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः किशोरेण ।।७।। उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ।।८।। उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ।।९।। विध्यन्तो वा प्रकृतिवाच्चोदनायां प्रवर्त्तेत यथा हि लिङ्गदर्शनम् ।।१०।। लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ।।११।। लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत, यथा स्थालीपुलाकेन ।।१२।। द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकमधिकागमात्तदाख्यं स्यादेकाहवत् ।।१३।। लिङ्गाच्च ।।१४।। न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ।।१५।। लिङ्ग सङ्घातधर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ।।१६।। न वार्थधर्मत्वात् सङ्घातस्य गुणत्वात् ।।१७।। अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ।।१८।। प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ।।१९।। विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ।।२०।।

।। चतुर्थ पाद समाप्त ।।

।। सप्तमोऽध्याय समाप्त ।।

———

अष्टमोऽध्याय

प्रथम पाद

अथ विशेषलक्षणम् ।।१।। यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ।।२।। प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ।।३।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।४।। कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम् ।।५।। स्रुगभिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ।।६।। विधिरिति चेत् ।।७।। न वाक्यशेषत्वात् ।।८।। शङ्कते चानुपोषणात् ।।९।। दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ।।१०।। इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ।।११।। पशौ च लिङ्गदर्शनात् ।।१२।। दैक्षस्य चेतरेषु ।।१३।। ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ।।१४।। तत्प्रवृत्तिर्गुणेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात् ।।१५।। अव्यक्तासु तु सोमस्य ।।१६।। गणेषु द्वादशस्य ।।१७।। गव्यस्य च तदादिषु ।।१८।। निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ।।१९।। कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ।।२०।। प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ।।२१।। अश्रुतित्वाच्च ।।२२।। गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ।।२३।। निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ।।२४।। अपि वाऽतद्विकारत्वात्क्रत्वर्थत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ।।२५।। एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ।।२६।। लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ।।२७।। ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्त्वाद्विकारो हि ।।२८।। अश्रुतित्वान्नेति चेत् ।।२९।। स्याल्लिङ्गभावात् ।।३०।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३१।। विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपास्यत्वात् ।।३२।। तेन च कर्मसंयोगात् ।।३३।। गुणत्वेन देवताश्रुतिः ।।३४।। हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् ।।३५।। धर्मानिग्रहाच्च ।।३६।। औषधं वा विशदत्वात्

॥३७॥ चरुशब्दाच्च ॥३८॥ तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥३९॥ मधूदके द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात् ॥४०॥ आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥४१॥ धर्मानुग्रहाच्च ॥४२॥ पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ॥४३॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

वाजिने सोमपूर्वत्वं सत्रामण्यां च ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् ॥१॥ अनुवषटकाराच्च ॥२॥ समुपहूय भक्षणाच्च ॥३॥ क्रयणश्रपण-पुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनञ्च तद्वत् ॥४॥ हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥५॥ प्रशंसा सोमशब्दः ॥६॥ वचनानीतराणि ॥७॥ व्यपदेशश्च तद्वत् ॥८॥ पशुः पुरोडाशस्य च लिङ्ग-दर्शनम् ॥९॥ पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्देवतासामान्यात् ॥१०॥ प्रोक्षणाच्च ॥११॥ पर्यग्निकरणाच्च ॥१२॥ सान्नाय्यं वा तत्प्रभ-वत्वात् ॥१३॥ तस्य च पात्रदर्शनात् ॥१४॥ दध्नः स्यान्मूर्तिसा-मान्यात् ॥१५॥ पयो वा कालसामान्यात् ॥१६॥ पश्वानन्तर्यात् ॥१७॥ द्रव्यत्वं चाविशिष्टम् ॥१८॥ आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभय-विकारः स्यात् ॥१९॥ एकं वा चोदनैकत्वात् ॥२०॥ दधिसङ्घात-सामान्यात् ॥२१॥ पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात् ॥२२॥ धर्मानुग्रहाच्च ॥२३॥ सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥२४॥ अपि वा यजति श्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥२५॥ द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजतिचोदनात् ॥२६॥ त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वास-नोपायि चोदनात् ॥२७॥ लिङ्गाच्च ॥२८॥ अन्यतरतोऽतिरात्र-त्वात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं, कुण्डपायिनामयनस्य च, तद्भूतेष्व-हीनत्वस्य दर्शनात् ॥२९॥ अहीनवचनाच्च ॥३०॥ सत्रे वोपायि-चोदनात् ॥३१॥ सत्रलिङ्गं च दर्शयति ॥३२॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ।।१।। देवतया वा नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात् ।।२।। गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत् ।।३।। नानाहानि वा संघातत्वात्प्रवृत्तिलिङ्गे, न चोदनात् ।।४।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।५।। कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ।।६।। तदावृत्तिं तु जैमिनिरह्लामप्रत्यक्षसङ्ख्यत्वात् ।।७।। संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत, कृतलक्षणग्रहणात् ।।८।। अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ।।९।। गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ।।१०।। एकाहाद्वा तेषां समत्वात्स्यात् ।।११।। गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रवृत्त्यधिकारात्सङ्ख्यात्वादग्निष्टोमवदव्यतिरेकात्तदाख्यत्वम् ।।१२।। तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनम् ।।१३।। न विंशतौ दशेति चेत् ।।१४।। एकसंख्यमेव स्यात् ।।१५।। गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ।।१६। गोत्ववच्च समन्वयः ।।१७।। संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ।।१८।। इतरस्याश्रुतत्वाच्च ।।१९।। द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात्।।२०।।अशास्त्रलक्षणत्वाच्च।।२१।। उत्पत्ति नामधेयत्व द् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ।।२२। वचनमिति चेत् ।।२३।। यावदुक्तम् ।।२४।। अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि सङ्ख्याविधानम् ।।२५।। ऋग्गुणत्वान्नेति चेत् ।।२६।। तथा पूर्ववति स्यात् ।।२७।। गुणावेशश्च सर्वत्र ।।२८।। निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत् ।।२९।। तथेहापि स्यात् ।।३०।। यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छब्देष्वपि प्रसिद्ध स्यात् ।।३१।। दृष्टः प्रयोग इति चेत् ।।३२।। तथा शरेष्वपि ।।३३।। भक्त्येति चेत् ।।३४।। तथेतरस्मिन् ।।३५।। अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ।।३६।।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ॥१॥ स लौकिकानां स्यात्कर्तुस्तदाख्यत्वात् ॥२॥ सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ॥३॥ जुहोतिच्चोदनानां वा तत्संयोगात् ॥४॥ द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ॥५॥ न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ॥६॥ दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥७॥ तथाग्निहविषोः ॥८॥ उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः ॥९॥ तस्मिन्सोमः प्रवर्त्तेताव्यक्तत्वात् ॥१०॥ न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रेन, विप्रतिषेधात् ॥११॥ शब्दान्तरत्वात् ॥१२॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥ उत्तरार्थस्तु, स्वाहाकारो, यथा साप्तदश्यं, तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिर्लिङ्गदर्शनात्पशुवत्॥१४॥ अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानार्थक्याद्धि प्राथम्यस्योपरोधः स्यात् ॥१५॥ न प्रकृतावपीति चेत् ॥१६॥ उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥१७॥ तच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वाद्विधिः स्यात् ॥१८॥ शब्दसामर्थ्याच्च ॥१९॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२०॥ तत्राभावस्य हेतुत्वाद्गुणार्थे स्याददर्शनम् ॥२१॥ विधिरिति चेत् ॥२२॥ न वाक्यशेषत्वाद्गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ॥२३॥ येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात् ॥२४॥ तत्रौषधानि चोद्यन्ते, तानि स्थानेन गम्येरन् ॥२५॥ लिंगाद्वा शेषहोमयोः ॥२६॥ सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत, विध्युत्पत्तिव्यवस्थानादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ॥२७॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

॥ अष्टमोऽध्याय समाप्त ॥

———

नवमोऽध्याय

प्रथम पाद

यज्ञकर्म प्रधानं; तद्धि चोदनाभूतं; तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ।।१।। संस्कारे युज्यमानानां; तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात् ।।२।। तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसंबन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयुक्तं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।३।। फलदेवतयोश्च ।।४।। न चोदनातो हि तादगुण्यम् ।।५।। देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्।।६।। आर्थपत्याच्च।।७।।ततश्च तेन सम्बन्धः ।।८।। अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्मप्रधानं स्याद्; गुणत्वे देवताश्रुतिः ।।९।। अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ।।१०।। द्रव्यसङ्ख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् ।।११।। अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ।।१२।। अर्थो वा स्यात्प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य च गुणभूतत्वात् ।।१३।। अपूर्वत्वाद्व्यवस्था स्यात् ।।१४।। तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ।।१५।। तद्युक्तस्येति चेत् ।।१६।। नाश्रुतित्वात् ।।१७।। अधिकारादिति चेत् ।।१८।। तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः; पृथक् सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयोजनम् ।।१९।। देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ।।२०।। यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ।।२१।। अनुवादश्च तदर्थवत् ।।२२।। प्रणीतादि तथेति चेत् ।।२३।। न यज्ञस्याश्रुतित्वात् ।।२४।। तद्देशानां वा सङ्घातस्याचोदितत्वात् ।।२५।। अग्निधर्मः प्रतीष्टकं सङ्घातात्पौर्णमासीवत् ।।२६।। अग्नेर्वा स्याद्द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात् ।।२७।। चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथात्वं स्यात् ।।२८।।

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥२९॥ लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ॥३०॥ अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ॥३१॥ स्याद्वाऽनारभ्य विधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥३२॥ अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात्स्थानधर्मः स्यात् ॥३३॥ इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्त्तेताऽऽरम्भणीया ॥३४॥ सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः; पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥ अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्राचोदितमप्राप्तं; चोदिताभिधानात् ॥३६॥ ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ॥३७॥ गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥ न समवायात् ॥३९॥ चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवद्विकारः स्यात् ॥४०॥ विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ॥४१॥ असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ।४२॥ कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥ न परार्थत्वात् ॥४४॥ लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता; सारस्वती स्त्रीत्वात् ॥४५॥ पश्वभिधानाद्वा; तद्धि चोदनाभूतं; पुंविषयं; पुनः पशुत्वम् ॥४६॥ विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ॥४७॥ पशुत्वं चंकशब्दात् ॥४८॥ यथोक्तं वा सन्निधानात् ॥४९॥ आम्नातादन्यदधिकारे, वचनाद्विकारः स्यात् ॥५०॥ द्वैध वा तुल्यहेतुत्वात्सामान्याद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥ उपदेशाच्च साम्नः ॥५२॥ नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत्साप्तदश्यवत् ॥५३॥ अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ॥५४॥ यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात् ॥५५॥ गानसंयोगाच्च ॥५६॥ वचनमिति चेत् ॥५७॥ न तत्प्रधानत्वात् ॥५८॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥ तदुक्तदोषम् ॥२॥ कर्म वा विधिलक्षणम् ॥३॥ तद्रूपत्वं वचनात्पाकयज्ञवत्

॥४॥ तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ॥५॥ शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् ॥६॥ परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥७॥ असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ॥८॥ संस्कारश्च प्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात् ॥९॥ अकार्यत्वाच्च शब्दानाम प्रयोगः प्रतीयेत ॥१०॥ अश्रितत्वाच्च ॥११॥ प्रयुज्यत इति चेत् ॥१२॥ ग्रहणार्थं प्रतीयेत ॥१३॥ तृचे स्याच्छ्रुति निर्देशात् ॥१४॥ शब्दार्थत्वाद्विकारस्य ॥१५॥ दर्शयति च ॥१६॥ वाक्यानां तु विभक्तत्वात्प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥१७॥ तथा चान्याथदर्शनम् ॥१८॥ अनवानोपदेशश्च तद्वत् ॥१९॥ अभ्यासेनेतराः श्रुतिः ॥२०॥ तदभ्यासः समासः स्यात् ॥२१॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥ नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत ॥२३॥ ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥ प्रागाथिकं तु ॥२५॥ स्वे च ॥२६॥ प्रगाथे च ॥२७॥ लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥ अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात् ॥२९॥ अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥ वचनाद्विनियोगः स्यात् ॥३१॥ समप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३२॥ वर्णे तु बादरिर्यथाद्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥३३॥ स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत् ॥३४॥ सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ॥३५॥ अन्वयं चापि दर्शयति ॥३६॥ निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात् ॥३७॥ अन्वयो वार्थवादः स्यात् ॥३८॥ अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ॥३९॥ धर्मस्यार्थकृतत्वाद्, द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे, चोदनानुबन्धः, समवायात् ॥४०॥ तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ॥४१॥ आवेश्येरन् वाऽर्थवत्त्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४२॥ आख्या चैवं तदावेशाद्विकृतौ स्यादपूर्वत्वात् ॥४३॥ परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥ क्रियेरन् वाऽर्थनिवृत्तेः ॥४५॥ एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥४६॥ निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् ॥४७॥ अपाकृते तद्विकारद्विरोधाद्व्यवतिष्ठेरन् ॥४८॥

उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः ।।४९।। स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात्प्रकृतिवत् ।।५०।। पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः, समुदायार्थसंयोगात्तदभीज्या हि ।।५१।। कालस्येति चेत् ।।५२।। नाप्रकरणत्वात् ।।५३।। मन्त्रवर्णाच्च ।।५४।। तदभावेऽग्निवदिति चेत् ।।५५।। नाधिकारिकत्वात् ।।५६।। उभयोरविशेषात् ।।५७।। यदभीज्या वा तद्विषयौ ।।५८।। प्रयाजेऽपीति चेत् ।।५९।। नाचोदितत्वात् ।। ६० ।।

।। द्वितीय पाद समाप्त ।।

तृतीय पाद

प्रकृतौ यथोत्पत्ति वचनमर्थानांतथोत्तरस्यां: ततौ तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात् ।।१।। लिङ्गदशनाच्च ।।२।। जातिर्नैमित्तिकं यथास्थानम् ।।३।। अविकारमेकेऽनार्षत्वात् ।।४।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।५।। विकारो वा तदुक्ते हेतुः ।।६।। लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम् ।।७।। नियमो वोभयभागित्वात् ।।८।। लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते; निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ।।९।। अन्यायस्त्वविकारेण, दुष्टप्रतिघातित्वादविशेषाच्च तेनास्य ।।१०।। विकारो वा तदर्थत्वात् ।।११।। अपि त्वन्यायसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वपि यथार्थं स्यात् ।।१२।। यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ।।१३।। छन्दसि तु यथादृष्टम् ।।१४।। विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात् ।।१५।। प्रकरणविशेषाच्च ।।१६।। अर्थाभावात्तु नैवं स्याद्, गुणमात्रमितरत् ।।१७।। द्यावोस्तथेति चेत् ।।१८।। नोत्पत्तिशब्दत्वात् ।।१९।। अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ।।२०।। विकृतौ चापि तद्वचनात् ।।२१।। अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत्समानविधानाश्चेत् ।।२२।। प्रतिनिधौ चाविकारात् ।।२३।। अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ।।२४।। तादर्थ्या-

द्वा तदाख्यं स्यात्संस्कारैरविशिष्टत्वात् ।।२५।। उक्तं च तत्त्वमस्य ।।२६।। संगर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ।।२७।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।२८।। एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयत्वात् ।।२९।। अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ।।३०।। सक्तुत्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात्परेष्वभ्यासेनैवं विवृद्धावभिधानं स्यात् ।।३१।। मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात्तस्यान्यायनिगदत्वात्सर्वत्रैवाविकारः स्यात् ।।३२।। अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासङ्ख्यं प्रयोगः स्यात् ।।३३।। स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात्, पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ।।३४।। देवता तु तदाशीष्ट्वात्सम्प्राप्तत्वात्स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ।।३५।। उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन्पतित्वं स्यात् ।।३६।। उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ द्विदेवते संभवात् ।।३७।। एकस्तु समावायात्तस्य तल्लक्षणत्वात् ।।३८।। संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् ।।३९।। एकत्वेऽपि न गुणाऽपायात् ।।४०।। नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ।।४१।। विकल्पो वा प्रकृतिवत् ।।४२।। अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात्स्यात् ।। ४३ ।।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे, तत्प्रकृतित्वाद्गुणस्य, प्रविभक्तत्वादविकारे हि, तासामकात्स्न्येंनाभिसम्बन्धो, विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ।।१।। अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ।।२।। न गुणादर्थकृतत्वाच्च ।।३।। समासेऽपि तथेति चेत् ।।४।। नासम्भवात् ।।५।। स्वाभिश्च वचनं, प्रकृतौ तथेह स्यात् ।।६।। वङ्क्रीणां तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात्, प्राधान्यमिज्या-

स्तदर्थत्वात् ॥७॥ तासां च कृत्स्नवचनात् ॥८॥ अपि त्वसन्निपातित्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ॥९॥ विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत् ॥१०॥ अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ॥११॥ आम्नातस्त्वविकारात्सङ्ख्यासुसर्वगामित्वात् ॥१२॥ सङ्ख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्वङ्क्रयः पुनः प्रधानम् ॥१३॥ अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ॥१४॥ अनाम्नातवचनमवचनेन हि, वङ्क्रीणां स्यान्निर्देशः ॥१५॥ पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात, तस्मात्समासशब्दः स्यात् ॥१६॥ अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥१७॥ तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ॥१८॥ ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्यायः ॥१९॥ तस्यां तु वचनादैरवत्पदविकारः स्यात् ॥२०॥ सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पेदन स्यात् ॥२१॥ वनिष्ठुसन्निधानादुरूकेण वपाभिधानम् ॥२२॥ प्रशसाऽस्यभिधानम् ॥२३॥ बाहुप्रशंसा वा ॥२४॥ श्येन-शलाकश्यपकवषोरुस्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात् ॥२५॥ कार्त्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ॥२६॥ अध्रिगोश्च तदर्थत्वात् ॥२७॥ प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते, परार्थत्वात्तदर्थे हि विधीयते ॥२८॥ धारणे च परार्थत्वात् ॥२९॥ क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥३०॥ न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥३१॥ प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥३२॥ संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥३३॥ तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥३४॥ अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे, विधानत्दतुल्यत्वादसंसर्गः ॥३५॥ परो नित्याऽनुवादः स्यात् ॥३६॥ विहितप्रतिषेधो वा ॥३७॥ वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात्स्यात्कारणात्केवलाशनम् ॥३८॥ स्वधर्मा स्याच्च लेपवत् ॥३९॥ रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥४०॥ अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात् ॥४१॥ शृतोपदेशाच्च ॥४२॥ अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ॥४३॥ लक्षणार्था शृतश्रुतिः ॥४४॥ श्रयणानां त्वपूर्वत्वात्प्रधानार्थे

विधानं स्यात् ॥४५॥ गुणो वा श्रयणार्थत्वात् ॥४६॥ अनिर्देशाच्च ॥४७॥ श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥४८॥ अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥४६॥ संस्कारं प्रति भावाच्च तस्मादप्यप्रधानम् ॥५०॥ पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥५१॥ शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत् ॥५२॥ पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्तो नोपपद्यते ॥५३॥ प्रवृत्तेर्यज्ञहेतुत्वात्प्रतिषेधे संस्काराणामकर्म स्यात्तत्कारितत्वाद्यथा प्रयाजप्रतिषेधे ग्रहणमाज्यस्य ॥५४॥ क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ॥५५॥ आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ॥५६॥ समाप्तिवचनात् ॥५७॥ चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥५८॥ अनिज्यां च वनस्पतेः; प्रसिद्धाऽन्तेन दर्शयति ॥५९॥ संस्था तद्देवतात्वात् स्यात् ॥६०॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

॥ नवमोऽध्याय समाप्त ॥

दशमोऽध्याय

प्रथम पाद

विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात् ॥१॥ अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यमर्थे क्रियते तादर्थ्यात् ॥२॥ तेषामप्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥३॥ इष्टिरारम्भसंयोगादङ्गभूतान्निवर्तेतारम्भस्य प्रधानसंयोगात् ॥४॥ प्रधानाच्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तेतानङ्गत्वात् ॥५॥ तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत् ॥६॥ न वाऽङ्गभूतत्वात् ॥७॥ एकवाक्यत्वाच्च ॥८॥ कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत, तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात् ॥९॥ स्याद्वा तु [illegible]निवृत्तिः

प्रतीयेत ॥१०॥ अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत ॥११॥ समाख्यानं च तद्वत् ॥१२॥ मन्त्रवर्णश्च तद्वत् ॥१३॥ प्रयाजे च तन्न्यायत्वात् ॥१४॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥ तथाऽऽज्यभागाग्निरपीति चेत् ॥१६॥ व्यपदेशाद्देवतान्तरम् ॥१७॥ समत्वाच्च ॥१८॥ पशावपीति चेत् ॥१९॥ न तद्भूतवचनात् ॥२०॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२१॥ गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूतविकाराच्च ॥२२॥ अपि वा शेषभूतत्वात्तत्संस्कारः प्रतीयेत, स्वाहाकारवदङ्गानामर्थसंयोगात् ॥२३॥ व्यूद्धवचनं च विप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात् ॥२४॥ गुणेपीति चेत् ॥२५॥ नासंहानात्कपालवत् ॥२६॥ ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात् ॥२७॥ ग्रहाभावे तद्वचनम् ॥२८॥ देवतायाश्च हेतुत्वे प्रसिद्धं तेन दर्शयति ॥२९॥ अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेः, श्रुतवद् गुणभूतविकारः स्यात् ॥३०॥ स द्व्यर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ; तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं; तस्यार्थवादत्वम् ॥३१॥ विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात् ॥३२॥ अभ्यासो वा प्रयाजवदेकदेशोऽन्यदेवत्यः ॥३३॥ चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात् ॥३४॥ प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ॥३५॥ ओदनो वाऽन्नसंयोगात् ॥३६॥ न द्व्यर्थत्वात् ॥३७॥ कपालविकारो वा विशयेऽर्थोपपत्तिभ्याम् ॥३८॥ गुणमुख्यविशेषाच्च ॥३९॥ तच्छ्रुतौ चान्यहविष्ट्वात् ॥४०॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥४१॥ ओदनो वा प्रयुक्तत्वात् ॥४२॥ अपूर्वव्यपदेशाच्च ॥४३॥ तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥४४॥ स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥४५॥ एकस्मिन्वा विप्रतिषेधात् ॥४६॥ न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे; पात्रसंयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति, तत्रार्थात्पात्रलाभः स्यादनियमोऽविशेषात् ॥४७॥ चरौ वा लिङ्गदर्शनात् ॥४८॥ तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात् ॥४९॥ अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात् ॥५०॥ पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम् ॥५१॥ संवपनं च तादर्थ्यात् ॥५२॥ सन्तापनमधः श्रपणात् ॥५३॥ उपधानं च तादर्थ्यात् ॥५४॥ पृथुश्लक्ष्णे

चाऽनपूपत्वात् ॥५५॥ अभ्यूहश्चोपरिपाकार्थत्वात् ॥५६॥ तथा च ज्वलनम् ॥५७॥ व्युद्धृत्याऽऽसादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात् ॥५८॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यात् ॥१॥ स्याद्वा प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत् ॥२॥ उपस्तरणाभिघारणयोरमृतार्थत्वादकर्मस्यात् ॥३॥ क्रियेत वाऽर्थवादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात् ॥४॥ अकर्म वा चतुर्भिराप्तिवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम् ॥५॥ क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणात्सामान्यात्तद्गुणत्वम् ॥६॥ तेषां चैकावदानत्वात् ॥७॥ आप्तिः संख्यासमानत्वात् ॥८॥ सतोस्त्वाप्तिवचनं व्यर्थम् ॥९॥ विकल्पस्त्वेकावदानत्वात् ॥१०॥ सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो ह्यतरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृतः स्यादितरस्यान्याय्यत्वात् ॥११॥ अकर्म वा संसर्गार्थनिवृत्तित्वात्तस्मादाप्तिसमर्थत्वम् ॥१२॥ भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् ॥१३॥ स्याद्वा निर्धानदर्शनात् ॥१४। वचनं वाऽऽज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥१५॥ वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात् ॥१६॥ एकधोपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहृतत्वात् ॥१७॥ सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात् ॥१८॥ पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात् ॥१९॥ पुरुषापनयात्स्वकालत्वम् ॥२०॥ एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥२१॥ ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददातिसामर्थ्यात् ॥२२॥ परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत् ॥२३॥ दक्षिणायुक्तवचनाच्च ॥२४॥ न चान्येनाऽऽनम्येत परिक्रयात्कर्मणः परार्थत्वात् ॥२५॥ परिक्रीतवचनाच्च ॥२६॥ संनिवन्ये च भृतिवचनात् ॥२७॥ नैष्कर्तृकेण संस्तवाच्च ॥२८॥ शेषभक्षाश्च तद्वत् ॥२९॥ संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात् ॥३०॥ शेषे च समत्वात् ॥३१॥ स्वकामिनि च

दर्शनात्तत्सामान्या [illegible] चान्यार्थदर्शनम् ॥३३॥ [illegible] नमार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ॥३४॥ परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ॥३५॥ प्रतिषेधश्च कर्मवत् ॥३६॥ स्याद्वा प्रासर्पिकस्य धर्ममात्रत्वात् ॥३७॥ न दक्षिणाशब्दात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३८॥ उदवसानीयः सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात् ॥३९॥ न त्वेतत्प्रकृतित्वाद्विभक्तचोदितत्वाच्च ॥४०॥ तेषां तु वचनाद्द्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात् ॥४१॥ तत्रान्यानृत्विजो वृणीरन् ॥४२॥ एकैकशस्त्वविप्रतिषेधात्प्रकृतेश्चैकसंयोगात् ॥४३॥ कामेष्टौ च दानशब्दात् ॥४४॥ वचनं वा सत्रत्वात् ॥४५॥ द्रव्ये चाचोदनाद्दक्षिणापनयः स्यात् ॥४६॥ अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधादस्थ्नाम् ॥४७॥ यावदुक्तमुपयोगः स्यात् ॥४८॥ यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात् ॥४९॥ क्रत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात् ॥५०॥ काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानुच्यमानानि ॥५१॥ ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत् ॥५२॥ स्युर्वाऽर्थवादत्वात् ॥५३॥ नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन् ॥५४॥ स्युर्वा होतृकामाः ॥५५॥ न तदाशीष्ट्वात् ॥५६॥ सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात् ॥५७॥ स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥५८॥ गते कर्मास्थियज्ञवत् ॥५९॥ जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात् ॥६०॥ वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तात् ॥६१॥ क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम् ॥६२॥ गुणलोपे च मुख्यस्य ॥६३॥ मुष्टिलोपात्तु सङ्ख्यालोपस्तद्गुणत्वात्स्यात् ॥६४॥ न निर्वापशेषत्वात् ॥६५॥ सङ्ख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकारः; संयोगाच्च परं मुष्टेः ॥६६॥ न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारयोगात् ॥६७॥ औत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात् ॥६८॥ नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यात्तदापत्तेः ॥६९॥ विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्राकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात् ॥७०॥ परेषां प्रतिषेधः स्यात्

॥७१॥ प्रतिषेधाच्च ॥७२॥ अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात् ॥७३॥ अर्थेन च; विपर्यासे तादर्थ्यात्तत्त्वमेव स्यात् ॥७४॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

विकृतौ शब्दवत्त्वात्प्रधानस्य; गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात् ॥१॥ प्रकृतिवत्त्वस्य चानुपरोधः ॥२॥ चोदनाप्रभुत्वाच्च ॥३॥ प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं; तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि पूर्ववान्विधरविशेषात्प्रवर्तितः ॥४॥ न चाङ्गविधिरनङ्गे स्यात् ॥५॥ कर्मणश्चैकशब्द्यात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो; गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात् ॥६॥ अकार्यत्वाच्च नाम्नः ॥७॥ तुल्या च प्रभुता गुणे ॥८॥ सर्वमेवं प्रधानमिति चेत् ॥९॥ तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थविधयः स्युः ॥१०॥ विधित्वं चाविशिष्टं वैकृतेः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम् ॥११॥ समत्वाच्च तदुत्पत्तेः संस्कारैरधिकारः स्यात् ॥१२॥ हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मंत्रालिङ्गात् ॥१३॥ प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१४॥ उत्तरस्य वा मंत्रार्थित्वात् ॥१५॥ विध्यतिदेशात्तच्छ्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात् ॥१६॥ पूर्वस्मिश्चामन्त्रदर्शनात् ॥१७॥ संस्कारे तु क्रियांतरं तस्य विधायकत्वात् ॥१८॥ प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१९॥ विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थं स्यात् ॥२०॥ संस्कारसामर्थ्याद् गुणसंयोगाच्च ॥२१॥ विप्रतिषेधात्क्रिया प्रकरणे स्यात् ॥२२॥ षड्भिर्दीक्षयतीति; तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥ अभ्यासात्तु प्रधानस्य ॥२४॥ आवृत्त्या मन्त्रकर्म स्यात् ॥२५॥ अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानिः स्यादन्यायश्च कृतेऽभ्यासः ॥२६॥ पौर्वापर्यञ्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात् ॥२७॥ तत्पृथकत्वं च दर्शयति ॥२८॥

न चाविशेषाद्व्यपदेशः स्यात् ॥२९॥ अग्न्याधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद् वाक्यसंयोगात् ॥३०॥ शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम् ॥३१॥ विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि ॥३२॥ शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते ॥३३॥ वासो वत्सश्च सामान्यात् ॥३४॥ अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्निमित्ताख्याभिसंयोगात् ॥३५॥ दाने पाकोऽर्थलक्षणः ॥३६॥ पाकस्य चान्नकारितत्त्वात् ॥३७॥ तथाभिघारणस्य ॥३८॥ द्रव्य विधिसन्निधौ सङ्ख्या तेषां गुणत्वात्स्यात् ॥३९॥ समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥४०॥ यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्वन्धः ॥४१॥ असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिर्दिधीयन्ते; तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ॥४२॥ असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्याच्छ्रुत्याकोपात्क्रतोः ॥४३॥ शब्दार्थश्चापि लोकवत् ॥४४॥ सा पशूनामुत्पत्तितो विभागात् ।४५॥ अनियमोऽविशेषात् ॥४६॥ भागित्वाद्वा गवां स्यात् ॥४७॥ प्रत्ययात् ॥४८॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥४९॥ तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात् ॥५०॥ परिक्रयाच्च लोकवत् ॥५१॥ विभागं चापि दर्शयति ॥५२॥ समं स्यादश्रुतित्वात् ॥५३॥ अपि वा कर्मवैषम्यात् ॥५४॥ अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या; विधिश्रुतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते; दर्शनाद्विशेषस्य तथाभ्युदये ॥५५॥ तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौविभक्तं चोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः स्याद्यथेष्टिर्गुणशब्देन ॥५६॥ सर्वस्य वा; क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य, गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात्तया समवायाद्धि कर्मभिः ॥५७॥ चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात् ॥५८॥ एका पञ्चेति धेनुवत् ॥५९॥ त्रिवत्सश्च ॥६०॥ तथा लिङ्गदर्शनम् ॥६१॥ एके तु श्रुतिभूतत्वासङ्ख्या गवां लिङ्गविशेषेण ॥६२॥ प्राकाशौ च तथेति चेत् ॥६३॥ अपि त्ववयवार्थत्वाद्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणेदन्ताविकारः स्यात् ॥६४॥ धेनुवच्चाश्वदक्षिणा, स ब्रह्मण इति, पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य

॥६५॥ एके तु कर्तृ संयोगात्स्रग्वत्तस्यलिङ्गविशेषेण ॥६६॥ अपि वा तदधिकाराद्धिरण्यवद्विकारः स्यात् ॥६७॥ तथा च सोमचमसः ॥६८॥ सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात् ॥६९॥ ब्रह्मदानेऽविशिष्टमिति चेत् ॥७०॥ उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्वात्प्रतिषिद्धस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः स दक्षिणानां स्यात् ॥७१॥ यदि तु ब्रह्मणस्तदूनं तद्विकारः स्यात् ॥७२॥ सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां क्रतुप्रधानत्वात् ॥७३॥ यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात् ॥७४॥ अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते ॥ ७५ ॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

प्रकृतिलिङ्गासंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात् ॥१॥ चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात् ॥२॥ सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत् ॥३॥ अधिकश्चैकवाक्यत्वात् ॥४॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥ प्राजापत्येषु चाम्नानात् ॥६॥ आमने लिङ्गदर्शनात् ॥७॥ उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृति लिङ्गसंयोगात् ॥८॥ आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात् ॥९॥ संस्कारे चान्यसंयोगात् ॥१०॥ प्रयाजवदिति चेन्नार्थान्यत्वात् ॥११-१२॥ आच्छादने त्वैकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१३॥ अधिकं वाऽन्यार्थत्वात् ॥१४॥ समुच्चयं च दर्शयति ॥१५॥ सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत ॥१६॥ अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१७॥ सर्वेषामविशेषात् ॥१८॥ एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात् ॥१९॥ स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वात् ॥२०॥ पावमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात् ॥२१॥ वचनानि त्वपूर्वत्वात् ॥२२॥

विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ॥२३॥ शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते ॥२४॥ तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वात् ॥२५॥ प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात् ॥२६॥ अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत् ॥२७॥ आरम्भा समवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ॥२८॥ द्रव्येष्वारम्भगामित्वादर्थेऽविकारः सामर्थ्यात् ॥२९॥ वृधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात् ॥३०॥ मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकारः स्यात् ॥३१॥ विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपिभेदः स्यात् ॥३२॥ यथोक्तं वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना ॥३३॥ स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे तच्छब्दत्वान्निवर्त्तेत ॥३४॥ संयोगे वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात् ॥३५॥ सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु गुणास्थाने यावदुक्तं स्यात् ॥३६॥ सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥३७॥ स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात्; प्रयोजनवदङ्गानामर्थसंयोगात् ॥३८॥ अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात् ॥३९॥ संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् ॥४०॥ स्याद् गुणार्थत्वात् ॥४१॥ मनोतायां तु वचनादविकारः स्यात् ॥४२॥ पृष्ठार्थेऽन्यद्रथन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात् ॥४३॥ स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात् ॥४४॥ यूपवदिति चेत् ॥४५॥ न कर्मसंयोगात् ॥४६॥ कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति ॥४७॥ समानदेवते वा तृचस्याविभागात् ॥४८॥ ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात् ॥४९॥ उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ॥५०॥ न वा परार्थत्वाद्यज्ञपतिवत् ॥५१॥ स्याद्वा आवाहनस्य तादर्थ्यात् ॥५२॥ न वा संस्कारशब्दत्वात् ॥५३॥ स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ॥५४॥ दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपानिगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ॥५५॥ दधि वा स्यात्प्रधानमाज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात् ॥५६॥ अपि वाऽऽज्यप्रधानत्वाद्गुणार्थे व्यप-

देशे भक्त्या संस्कारशब्दः स्यात् ॥५७॥ अपि वाऽऽख्याविकारत्वा-त्तेन स्यादुपलक्षणम् ॥५८॥ न वा स्याद्गुणशास्त्रत्वात् ॥५९॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

पंचम पाद

आनुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेष्वागमवदन्त्यलोपः स्यात् ॥१॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥ विकल्पो वा समत्वात् ॥३॥ क्रमादुपसर्जनोऽन्ते स्यात् ॥४॥ लिङ्गमविशिष्टं सङ्ख्याया हि तद्वचनम् ॥५॥ आदितो वा प्रवृत्तिः स्यादारम्भस्य तदादित्वाद्वचनादन्त्यविधिः स्यात् ॥६॥ एकत्रिके तृचादिषु माध्यंदिनछन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ॥७॥ आदितो वा तन्न्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात् ॥८॥ यथा-निवेशश्च प्रकृतिवत्संख्यामात्रविकारत्वात् ॥९॥ त्रिकस्तृचे धुर्ये स्यात् ॥१०॥ एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात् ॥११॥ चोदनासु त्वपूर्वत्वाल्लिङ्गेन धर्मनियमः स्यात् ॥१२॥ प्राप्तिस्तु रात्रिशब्द-सम्बन्धात् ॥१३॥ अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वासामर्थ-वत्त्वात् ॥१४॥ स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन सङ्ख्यापूरणम-विकारात्सङ्ख्यायां गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥१५॥ आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात् ॥१६॥ सङ्ख्यायाश्च पृथक्त्व निवेशात् ॥१७॥ परावच्छब्दत्वात् ॥१८॥ उक्ताविकाराच्च ॥१९॥ अश्रुतित्वादिति चेत् ॥२०॥ स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम् ॥२१॥ आवापवचनं चाभ्यासे नोपपद्यते ॥२२॥ साम्ना चोत्पत्ति-सामर्थ्यात् ॥२३॥ धुर्येष्वपीति चेत् ॥२४॥ नावृत्तिधर्मत्वात् ॥२५॥ बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात् । २६॥ अभ्यासेन तु सङ्ख्यापूरणं; सामिधेनीष्वभ्यासप्रकृतित्वात् ॥२७॥ अविशेषा-न्नेति चेत् ॥२८॥ स्यात्तद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येताऽऽसङ्ख्या-पूरणात् ॥२९॥ यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात् ॥३०॥ अविशे-

नाञ्च दर्शनात् ॥३१॥ कर्मस्वपीति चेत् ॥३२॥ न चोदितत्वात् ॥३३॥ षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात् ॥३४॥ प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ॥३५॥ अयज्ञवचनाच्च ॥३६॥ प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ॥३७॥ प्रकृतिदर्शनाच्च ॥३८॥ आम्नानं परिसङ्ख्यार्थम् ॥३९॥ उक्तमभावदर्शनम् ॥४०॥ गुणादयज्ञत्वम् ॥४१॥ तस्याग्रयणाद्ग्रहणम् ॥४२॥ उक्थ्याच्च वचनात् ॥४३॥ तृतीयसवने वचनात्स्यात् ॥४४॥ अनभ्यासे पराक्छब्दस्य तादर्थ्यात् ॥४५॥ उक्थ्यविच्छेदवचनाच्च ॥४६॥ आग्रयणाद्वा पराक्छब्दस्य देशवाचित्वात्पुनराधेयवत् ॥४७॥ विच्छेदः स्तोमसामान्यात् ॥४८॥ उक्थ्याऽग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम् ॥४९॥ सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात् ॥५०॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥ वचनात्संस्थान्यत्वम् ॥५२॥ अभावादतिरात्रेषु गृह्यते ॥५३॥ अन्वयो वाऽनारभ्य विधानात् ॥५४॥ चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते; इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत् ॥५५॥ अपि वा सङ्ख्यावत्त्वान्नाहीनेषु गृह्यते; पक्षवदेकस्मिन्सङ्ख्यार्थभावात् ॥५६॥ भोजने च तत्सङ्ख्यं स्यात् ॥५७॥ जगत्साम्नि, सामाभावादृक्तः, साम तदाख्यं स्यात् ॥५८॥ उभयसाम्नि, नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात् ॥५९॥ मुख्येन वा नियम्यते ॥६०॥ निमित्त विघाताद्वा क्रतुयुक्तस्य कर्म स्यात् ॥६१॥ ऐन्द्रावायवस्याग्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६२॥ अपि वा धर्मविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रतिकरणादग्रत्वमुच्यते ॥६३॥ धारासंयोगाच्च ॥६४॥ कामसंयोगे तु वचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६५॥ तद्देशानां वाऽग्रसंयोगात्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात् ॥६६॥ परेषु चाग्रशब्दः पूर्ववत् स्यात् तदादिषु ॥६७॥ प्रतिकर्षो वा नित्यार्थेनाग्रस्य तदसंयोगात् ॥६८॥ प्रतिकर्षञ्च दर्शयति ॥६९॥ पुरस्तादैन्द्रवायवादग्रस्य कृतदेशत्वात् ॥७०॥ तुल्यधर्मत्वाच्च ॥७१॥ तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥७२॥ सादनं चापि शेषत्वात् ॥७३॥

लिङ्गदर्शनाच्च ।।७४।। प्रदानं चापि सादनवत् ।।७५।। न वा प्रधानत्वाच्छेषत्वात्सादनं तथा ।।७६।। त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नानं गुणार्थं स्यात् ।।७७।। अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानं विधानं स्यात् ।।७८।। द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात् ।।७९।। व्यूढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकारः स्यात् ।।८०।। कामसंयोगात् ।।८१।। तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ।।८२।। एकादशिनीवत् त्र्यनीका प्रवृत्तिः स्यात् ।।८३।। स्वस्थानविवृद्धिर्वाऽह्नामप्रत्यक्षसङ्ख्यत्वात् ।।८४।। पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्र्यस्त्रिंशे परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायवः स्यात् ।।८५।। वचनात्परिवृत्तिरैकादशिनेषु ।।८६।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।८७।। छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे, भक्षपत्रमानपरिधिकपालमन्त्राणां यथोत्पत्तिवचनमूहवत्स्यात् ।। ८८ ।।

।। पंचम पाद समाप्त ।।

षष्ठ पाद

एकर्चस्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत् ।।१।। तृचे वा लिङ्गदर्शनात् ।।२।। स्वद्दे शं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात् ।।३।। पृष्ठ्यस्य युगपद्विधेरेकाहवद्द्विसामत्वम् ।।४।। विभक्ते वाऽसमस्त विधानात् तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम् ।।५।। समासस्त्वैकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात् ।।६।। विहारप्रतिषेधाच्च ।।७।। श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात् ।।८।। विहारप्रकृतित्वाच्च ।।९।। यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं, विशये च तदासत्तेः ।।१०।। त्र्यस्तथेति चेत् ।।११।। न समत्वात्प्रयाजवत् ।।१२।। सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तेषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात् ।।१३।। विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात् ।।१४।। वैरूपसामा क्रतुसंयोगात्त्रिवृद्वदेकसामा स्यात् ।।१५।। पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ।।१६।। त्रिवृद्वाविदित

चेत् ॥१७॥ न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात् ॥१८॥ विधिरिति चेत् ॥१९॥ न स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्कर्माविभागात् ॥२०॥ प्रकृतेश्चाविकारात् ॥२१॥ त्रिवृति सङ्ख्यात्वेन सर्वसङ्ख्याविकारः स्यात् ॥२२॥ स्तोमस्य वा तल्लिङ्गत्वात् ॥२३॥ उभयसाम्नि विश्वजिद्वद्विभागः स्यात् ॥२४॥ पृष्ठार्थे वाऽतदर्थत्वात् ॥२५॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥ पृष्ठे रसभोजनमावृत्ते संस्थिते त्रयस्त्रिंशेऽहनि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत् ॥२७॥ अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥२८॥ अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥२९॥ अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥ ३० ॥ आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् ॥ ३१ ॥ मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात ॥३२॥ प्राश्येतवायज्ञार्थत्वात् ॥३३॥ मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात् ॥३४॥ तेन च संस्तवात् ॥३५॥ अहरन्ताच्च परेण चोदना ॥३६॥ पक्षे सङ्ख्या सहस्रवत् ॥३७॥ अहरङ्गवांशुवच्चोदनाभावात् ॥३८॥ दशमविसर्गवचनाच्च ॥३९॥ दशमेऽहनीति च तद्गुणशास्त्रात् ॥४०॥ सङ्ख्यासामञ्जस्यात् ॥४१॥ पश्वतिरेके चैकस्य भावात् ॥४२॥ स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनाविप्रतिषिद्धं व्रतवत् ॥४३॥ वचनाददन्तत्वम् ॥४४॥ सत्रमेकः प्रकृतिवत् ॥४५॥ बहुवचनात्तु बहूनां स्यात् ॥४६॥ अपदेशः स्यादिति चेत् ॥४७॥ नैकव्यपदेशात् ॥४८॥ सन्निवापं च दर्शयति ॥४९॥ बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचने व्यर्थम् ॥५०॥ अन्ये स्युरृत्विजः प्रकृतिवत् ॥५१॥ अपि वा यजमानाः स्युरृत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम् ॥५२॥ कर्तृसंस्कारो वचनादाधातृवदिति चेत् ॥५३॥ स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत् ॥५४॥ स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत् ॥५५॥ न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मेण ॥५६॥ बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते ॥५७॥ दीक्षिताऽदीक्षित व्यपदेशश्च नोपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात् ॥५८॥ अदक्षिणात्वाच्च ॥५९॥ द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायि-

चोदनेन यजमानबहुत्वेन च: सत्रशाब्दाभिसंयोगात् ॥६०॥ यजतिचोदनादहीनत्वं: स्वामिनां चाऽस्थितपरिमाणत्वात् ॥६१॥ अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेद: स्यात् ॥६२॥ सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥६३॥ पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात् ॥६४॥ ज्यौतिष्टोम्यस्तु दक्षिणा:; सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतिवत्; तस्मात् तासां विकार: स्यात् ॥६५॥ द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषु: तासां सङ्ख्याविकार: स्यात् ॥६६॥ परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकार: स्यात् ॥६७॥ भेदस्तु गुणसंयोगात् ॥६८॥ प्रत्यहं सर्वसंस्कार: प्रकृतिवत्: सर्वासां सर्वशेषत्वात् ॥६९॥ एकार्थत्वान्नेति चेत् ॥७०॥ उत्पत्तौ कालभेदात् ॥७१॥ विभज्य तु संस्कारवचनाद्द्वादशाहवत् ॥७२॥ लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्यय: स्याल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात् ॥७३॥ यावदर्थं वाऽर्थशेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिश्च लिङ्गसामर्थ्यम् ॥७४॥ आग्नेये कृत्स्नविधि: ॥७५॥ ऋजीषस्य प्रधानत्वादहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्ति: स्यात् ॥७६॥ वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात् ॥७७॥ तत्राहर्गणेऽर्थाद्वास: प्रकृति: स्यात् ॥७८॥ मानं प्रत्युत्पादयेत्प्रकृतौ तेन दानादुपावहरणस्य ॥७९॥ हरणे वा श्रुत्यसंयोगादर्थाद्विकृतौ तेन ॥८०॥

॥ षष्ठ पाद समाप्त ॥

सप्तम पाद

पशावेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात् ॥१॥ प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् ॥२॥ हविर्भेदात् कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात् तेभ्योऽवदानं स्यात् ॥३॥ आज्यभागवद्वा निर्देशात्परिसङ्ख्यास्यात् ॥४॥ तेषां वा द्व्यवदानत्वं विवक्षन्नभिनिर्दिशेत्पशो: पञ्चावदानत्वात् ॥५॥ असंशिरोऽनूकसक्थिपविप्रेषसच्: ...

ख्यानेऽनर्थकः स्यात्; प्रदानत्वात्तेषां निरवदानप्रतिषेधः स्यात् ॥६॥ अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ॥७॥ अब्राह्मणे च दर्शनात् ॥८॥ शृताशृतोपदेशाच्चतेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां न श्रपणं स्यात् ॥९॥ इज्याशेषात्स्विष्टकृदिज्येत प्रकृतिवत् ॥१०॥ त्र्यङ्गैर्वा शरवद्विकारः स्यात् ॥११॥ अध्यूध्नी होतस्त्र्यङ्गवदिडा-दविकारः स्यात् ॥१२॥ शेषे वा समवैति; तस्माद्रथवन्नियमः स्यात् ॥१३॥ अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१४॥ अपि वा दानमात्रं स्याद्-भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् ॥१५॥ दातुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्ष-विकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१६॥ अग्नीधश्च वनिष्ठरध्यू-ध्नीवत् ॥१७॥ अप्राकृतत्वान्मैत्रावरुणस्याभक्षत्वम् ॥१८॥ स्याद्वा होत्रध्वर्यु विकारत्वात्तयोः कर्मभिसम्बन्धात् ॥१९॥ द्विभागः स्याद् द्विकर्मत्वात् ॥२१॥ एकत्वाद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुति-भूतत्वात् ॥२१॥ प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात् ॥२२॥ अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात् ॥२३॥ विकृतौ प्राकृतस्य विधे-र्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थकं स्यात् ॥२४॥ अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात् ॥२५॥ न वा शब्दपृथक्त्वात् ॥२६॥ अधिकं वाऽर्थवत्त्वात् स्यादर्थवादगुणाभावे वचनादविकारे; तेषु हि तादर्थ्यं स्यादपूर्व-त्वात् ॥२७॥ प्रतिषेधः स्यादिति चेत् ॥२८॥ नाश्रुतत्वात् ॥२९॥ अग्रहणादिति चेत् ॥३०॥ न तुल्यत्वात् ॥३१॥ तथा तद्ग्रहणे स्यात् ॥३२॥ अपूर्वतां तु दर्शयेद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वात् ॥३३॥ ततोऽपि यावदुक्तं स्यात् ॥३४॥ स्विष्टकृति भक्षप्रतिषेधः स्यात्तुल्यकारण-त्वात् ॥३५॥ अप्रतिषेधो वा; दर्शनादिडायां स्यात् । ॥३६॥ प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात् ॥३७॥ शंय्विडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ॥३८॥ नित्यानु-वादो वा कर्मणः स्यादशब्दत्वात् ॥३९॥ प्रतिषेध वच्चोत्तरस्य परस्तात् प्रतिषेधः स्यात् ॥४०॥ प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनादतिक्रमः स्यात् ॥४१॥ प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य च नान्यदेशत्वम्

।।४२।। उपसत्सु यावदुक्तमकर्म स्यात् ।।४३।। स्रौवेण वाऽगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ।।४४।। अप्रतिषेधो वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसववत् ।।४५।। अनिज्या वा शेषस्य मुख्यदेवतानभीज्यत्वात् ।।४६।। अवभृथे बर्हिषः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात् ।।४७।। आज्यभागयोर्वागुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ।।४८।। प्रयाजानां त्वे कदेशप्रतिषेधादवाक्यशेषत्व; तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।।४९।। आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात् ।।५०।। विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।।५१।। उभयप्रदेशादिति चेत् ।।५२।। शरेष्वपीति चेत् ।।५३।। विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत् ।।५४।। तथेतरस्मिन् ।।५५।। श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ।।५६।। ग्रहणस्यार्थवत्त्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात् ।।५७।। सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्ते स्यात् ।।५८।। अधिकं स्यादिति चेत् ।।५९।। नार्थाभावात् ।।६०।। तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः; प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात् ।।६१।। यावच्छ्रुतीति चेत् ।।६२।। न प्रकृतावशब्दत्वात् ।।६३।। विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद्गुणशास्त्रं यदेति स्यात् ।।६४।। ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।।६५।। विरोधित्वाच्च लोकवत् ।।६६।। क्रतोश्च तद्गुणत्वात् ।।६७।। विरोधिनाञ्च तच्छ्रुतावशब्दत्वाद्विकल्पः स्यात् ।।६८।। पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम् ।।६९।। यद्यपि चतुरवत्तीति तु नियमे नोपपद्यते ।।७०।। क्रत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात् ।।७१।। यथाश्रुतीति चेत् ।।७२।। न चोदनैकत्वात् ।।७३।।

॥ सप्तम पाद समाप्त ॥

अष्टम पाद

प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्य विधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः

स्यात् ॥१॥ अर्थप्राप्तवदिति चेत् ॥२॥ न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्द-लक्षणम् ॥३॥ अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य; विधीनामेकदेशः स्यात् ॥४॥ अपूर्वे चार्थवादः स्यात् ॥५॥ शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात् ॥५॥ न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात् ॥७॥ पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात् ॥८॥ उपवादश्च तद्वत् ॥९॥ प्रतिषेधादकर्मेति चेत् ॥१०॥ न शब्दपूर्वत्वात् ॥११॥ दीक्षितस्य दान-होम-पाक-प्रति-षेधेऽविशेषात्सर्व-दान-होम-पाक-प्रतिषेधः स्यात् ॥१२॥ अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात्; क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१३॥ तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात् ॥१४॥ अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्; प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ॥१५॥ अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यात् ॥१६॥ अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणमविकृतमाज्यभागवत्; प्राकृतप्रतिषेधार्थम् ॥१७॥ विकारे तु तदर्थं स्यात् ॥१८॥ वाक्यशेषो वा क्रतुनाऽग्रहणात् स्यादनारभ्य विधानस्य ॥१९॥ मन्त्रेष्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात् स्यात् ॥२०॥ अनाम्नाते दर्शनात् ॥२१॥ प्रतिषेधाच्च ॥२२॥ अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥ मासि ग्रहणं च तद्वत् ॥२४॥ ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ॥२५॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥ ग्रहण समानविधानं स्यात् ॥२७॥ मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम् ॥२८॥ उत्पत्तितादर्थ्याच्चितुरवत्तं; प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यम तुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥२९॥ तत्संस्कारश्रुतेश्च ॥३०॥ ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्त्वे; द्विरभिघारणेन तदाप्तिवचनात् ॥३१॥ तुल्यवच्चाभिधाय सर्वेषुभक्त्यनुक्रमणात् ॥३२॥ साप्तदश्यवन्नियम्येत ॥३३॥ हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात् ॥३४॥ पुरोडाशाभ्यामित्यधिकृतानां पुरोडाशयोरुपदेशस्तच्छ्रुतित्वाद्वैश्यस्तोमवत् ॥३५॥ न त्वनित्याधिकारोऽस्ति; विधेर्नि-(धौ नि-) त्येन सम्बन्धस्तस्मादवाक्यशेषत्वम् ॥३६॥ सति च नैक देशेन कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥३७॥ कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोके ॥३८॥

कर्त्तु : स्यादिति चेत् ।।३९।। न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः ।।४०।। कर्मणोस्तु प्रकरणे; तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिङ्गेन काल-शास्त्रं स्यात् ।।४१।। यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्त कालत्वात् ।।४२।। अपि वा विहितत्वाद्-गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिर्द्विदेवतार्था स्याद्यथाऽनभिप्रेत-स्तथाऽऽग्नेयो; दर्शनादेकदेवते ।।४३।। विधिं तु बादरायणः ।।४४।। प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ।।४५।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।४६।। उपांशु-याजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ।।४७।। ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात् ।।४८।। तद्वच्च देवतायां स्यात् ।।४९।। तान्त्रीणां प्रकरणात् ।।५०।। धर्माद्वा स्यात्प्रजापतिः ।।५१।। देवतायास्त्वनिर्वचनं; तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं; तस्मादिहाधिकारेण ।।५२।। विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानादमावास्याहविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनात् ।।५३।। अपि वा पौर्णमास्यां स्यात् प्रधानशब्द-संयोगाद्, गुणत्वान्मत्रो यथाप्रधानं स्यात् ।।५४।। आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दार्शयत्यमावास्याविकारे ।।५५।। अग्नीषो-मविधानात्तु पौर्णमास्यामुभयत्र विधीयते ।।५६।। प्रतिषिद्धच विधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात् ।।५७।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।५८।। न चानङ्गं सकृच्छ्रुतावुभयत्र विधीयेतासम्बन्धात् ।।५९।। गुणानां च परार्थत्वात्प्रवृत्तौ विधिलिङ्गानि दर्शयति ।।६०।। विकारे चाश्रुतित्वात् ।।६१।। द्विपुरोडाशायां स्यादन्तरा-(लगुणा-) र्थत्वात् ।।६२।। अजामिकरणार्थत्वाच्च ।।६३।। तदर्थमिति चेन्न तत्प्रधानानत्वात् ।।६४।। अशिष्टेन च सम्बन्धात् ।।६५।। उत्पत्तेस्तु नि-वेशः स्याद्गुणस्यानुपरोधेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादन्तरार्थस्य; नैमित्तिकत्वात्; तदभावेऽश्रुतौ स्यात् ।।६६।। उभयोस्तु विधानात् ।।६७।। गुणानाञ्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात् ।।६८।। ।।६८।। अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुराडाशौ ।।६९।। प्रशंसार्थ-मजामित्वम् ।।७०।।

।। अष्टमः पादः समाप्तः ।। ।। दशमोऽध्यायः समाप्तः ।।

एकादशोऽध्याय

प्रथम पाद

प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादककर्म्यमेक-शब्दाभिसंयोगात् ॥१॥ शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत ॥२॥ अविधानात्तु नैवं स्यात् ॥३॥ शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्र-तिप्रधानभावः स्यात् ॥४॥ अङ्गानान्तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फलान्यत्वम् ॥५॥ अर्थभेदस्तु तत्राथहैकार्थ्यादैक कर्म्यम् ॥६॥ शब्दभेदान्नेति चेत् ॥७॥ कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ताच्छब्द्यं स्यात्तदर्थ-त्वात् ॥८॥ कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु ॥९॥ आरम्भस्य शब्दपूर्वत्वात् ॥१०॥ एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद्; यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात् ॥११॥ फलाभावादिति चेत् ॥१२॥ न कर्मसंयोगात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात् ॥१३॥ ऐकशब्द्या-दिति चेत् ॥१४॥ नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम् ॥१५॥ विधेस्त्वेक-श्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवच्छ्रुतभूताभिसंयोगादर्थेन युग-पत्प्राप्तेर्यथाक्रमं स्वशब्दो निवीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ॥१६॥ तथा कर्मोपदेशः स्यात् ॥१७॥ क्रत्वन्तरेषु पुनर्वचनम् ॥१८॥ उत्तरास्वश्रुतित्वाद्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत ॥१९॥ कर्मण्यारम्भाभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ॥२०॥ अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ॥२१॥ सकृत्तु स्यात्कृतार्थत्वादङ्गवत् ॥२२॥ शब्दार्थश्च तथा लोके ॥२३॥ अपि वा संप्रयोगे यथा कामी प्रतीयेताश्रुतित्वाद्विधिषु वचनानि स्युः ॥२४॥ ऐकशब्द्यात्तथाङ्गेषु ॥२५॥ लोके कर्माऽर्थ-लक्षणम् ॥२६॥ क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षम (त्यक्षोऽ) तस्तन्नि-

वृत्त्याऽपवर्गः स्यात् ॥२७॥ धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ॥२८॥ क्रतुवद्वानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात् ॥२९॥ सकृद्वा कारणैकत्वात् ॥३०॥ परिमाणं चानियमेन स्यात् ॥३१॥ फलारम्भनिवृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वम् ॥३२॥ अर्थवांस्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादनर्थको यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्यापरिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात् ॥३३॥ पृथक्त्वाद्विधितः परिमाणं स्यात् ॥३४॥ अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च कर्मणः स्यात्क्रियार्थत्वात् ॥३५॥ अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गाऽवदानेषु वचनात्सकृत्त्वस्य ॥३६॥ अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात् ॥३७॥ बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्पः स्यात् ॥३८॥ दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३९॥ तथेह ॥४०॥ भक्त्येति चेत् ॥४१॥ तथेतरस्मिन् ॥४२॥ प्रथमं वा नियम्येत; कारणादतिक्रमः स्यात् ॥४३॥ श्रुत्यर्थाविशेषात् ॥४४॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४५॥ प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः ॥४६॥ उत्तरासु न यावत्स्वमपूर्वत्वात् ॥४७॥ यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात् ॥४८॥ साकल्यविधानात् ॥४९॥ बह्वर्थत्वाच्च ॥५०॥ अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः ॥५१॥ तथा पयः प्रतिषेधः कुमाराणाम् ॥५२॥ सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात् ॥५३॥ प्रधानकर्मार्थत्वादङ्गानां तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात् ॥५४॥ क्रमकोपश्च योगपद्ये स्यात् ॥५५॥ तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात् ॥५६॥ ऐकार्थ्यादव्यवायः स्यात् ॥५७॥ तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः ॥५८॥ तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥५९॥ असंसृष्टोऽपि तादर्थ्यात् ॥६०॥ विभवाद्वा प्रदीपवद् ॥६१॥ अर्थात्तु लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात् ॥६२॥ सकृदिज्यां कामुकायनः, परिमाणविरोधात् ॥६३॥ विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात् ॥६४॥ विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः ॥६५॥ क्व-

चिद्विधानान्नेति चेत् ॥३६॥ न विधेश्चोदितत्वात् ।६७॥ व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम् ॥६८॥ भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः प्रधानकालत्वात् ॥६९॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७०॥ विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात् ॥७१॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

एकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात् ॥१॥ अविधिश्चेत्कर्मणामनभिसम्बन्धः प्रतीयेत; तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद्विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात् ॥२॥ अङ्गेषु च तद्भावः प्रधानं प्रति निर्देशात् ॥३॥ यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्द्यात्प्रधानार्थाभिसंयोगात् ॥४॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥ श्रुतिश्चैषां प्रधानवत्कर्मश्रुतेः परार्थत्वात्कर्मणोऽश्रुति त्वाच्च ॥६॥ अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानेनोपदिश्येरंस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम् ॥७॥ द्रव्यदेवतं तथेति चेत् ॥८॥ न चोदनाविधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः ॥९॥ तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि भेदस्तुः तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयागे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥ इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वैककर्म्यात् अङ्गानां तन्त्रभावः स्यात् ॥११॥ कालभेदान्नेति चेत् ॥१२॥ नैकदेशत्वात्पशुवत् ॥१३॥ अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्सङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥१४॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥ तथा तदवयवेषु स्यात् ॥१६॥ पशौ तू चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात् ॥१७॥ तथा स्यादध्वरकल्पेष्टौ विशेषकालत्वात् ॥१८॥ इष्टिरिति चैकवच्छ्रुति। ॥१९॥ अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥२०॥ प्रथमस्य वा कालवचनम् ॥२१॥

फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र ॥२२॥ वसाहोमस्तन्त्रमेकदेवतेषु स्यात् प्रदानस्यैककालत्वात् ॥२३॥ कालभेदात्त्वावृत्तिर्देवता भेदे ॥२४॥ अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत् ॥२५॥ इतरप्रतिषेधो वा; अनुवाद-मात्रमन्तिकस्य ॥२६॥ अशास्त्रत्वाच्च देशानाम् ॥२७। अवभृथे प्रधानेऽग्निविकारः स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोगः ॥२८॥ द्रव्य-देवतावत् ॥२९॥ साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात् ॥३०॥ लिङ्ग-दर्शनाच्च ॥३१॥ शब्दविभागाच्च देवतानपनयः ॥३२॥ दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रघासेष देशभेदात्सर्वं विक्रियते ॥३३॥ अचोदनेति चेत् ॥३४॥ स्यात्पौर्णमासीवत् ॥३५॥ प्रयोगचोदनेति चेत् ॥३६॥ त-(अ-) थेह ॥३७॥ आसादनमिति चेत् ॥३८॥ नोत्तरेणैकवाक्य-त्वात् ॥३९॥ अवाच्यत्वात् ॥४०॥ आम्नायवचनं तद्वत् ॥४१॥ कर्तृभेदस्तथेति चेत् ॥४२॥ न समवायात् ॥४३॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥४४॥ वेदिसंयोगादिति चेत् ॥४५॥ न देशमात्रत्वात् ॥४६॥ एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रैः स्यात् ॥४७॥ नाना वा कर्तृभेदात् ॥४८॥ पर्यग्नि कृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः; श्रुति-सामान्यादारण्यवत्तस्माद्ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात् ॥४९॥ संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे क्रतुसामान्यात् ॥५०॥ वपानां चानभिघारणस्य दर्शनात् ॥५१॥ पञ्चशारदीयास्तथेति चेत् ॥५२॥ न चोदनैकवाक्यत्वात् ॥५३॥ संस्काराणां च दर्शनात् ॥५४॥ दशपेये क्रयप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राञ्चां; तत्समानं तन्त्रं स्यात् ॥५५॥ समानवचनं तद्वत् ॥५६॥ अप्रतिकर्षो वाऽर्थ-हेतुत्वात्सहत्वं विधीयते ॥५७॥ पूर्वस्मिंश्चावभृथस्य दर्शनात् ॥५८॥ दीक्षाणां चोत्तरस्य ॥५९॥ समानः कालसामान्यात् ॥६०॥ निष्कासस्यावभृथे तदेकदेशत्वात् पशुवत्प्रदानविप्रकर्षः स्यात् ॥६१॥ अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात् ॥६२॥ प्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मसंयोगात् ॥६३॥ उदयनीये च तद्वत् ॥६४॥ प्रतिपत्तिर्वाऽ-

कर्मसंयोगात् ॥६५॥ अर्थकर्म वा शेषत्वाच्छ्रपणवत्तदर्थेन विधानात् ॥६६॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वचनादन्यकालत्वम् ॥१॥ द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात् ॥२॥ यूपश्चाकर्मकालत्वात् ॥३॥ एक यूपं च दर्शयति ॥४॥ संस्कारास्त्वावर्तेरन्नर्थकालत्वात् ॥५॥ तत्कालास्तु; यूपकर्मत्वात्तस्यधर्मविधानात्सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम् ॥६॥ सकृन्मानं च दर्शयति ॥७॥ स्वरुस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात् ॥८॥ साधारणो वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात् ॥९॥ सोमान्ते च प्रतिपत्तिदर्शनात् ॥१०॥ तत्कालो वा प्रस्तरवत् ॥११॥ न वोत्पत्ति वाक्यत्वात्प्रदेशात् प्रस्तरे तथा ॥१२॥ अहर्गणे विषाणाप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात् ॥१३॥ पाणेस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातः सवनमध्यत्वाच्छिष्टे चाभिप्रवृत्तत्वात् ॥१४॥ वाग्विसर्गो हविष्कृता बीजभेदे तथा स्यात् ॥१५॥ पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत् ॥१६॥ अग्नियोगः सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मणः परेषु साङ्गस्य; तस्मात्सर्वापवर्गः विमोकः स्यात् ॥१७॥ प्रधानापवर्गे वा तदर्थत्वात् ॥१८॥ अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात् ॥१९॥ अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात् ॥२०॥ सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात् ॥२१॥ तत्कालात्त्वावर्तेत प्रयोगतो विशेषसम्बन्धात् ॥२२॥ अप्रयोगाङ्गमिति चेत् ॥२३॥ स्यात्प्रयोगनिर्देशात्कर्तृभेदवत् ॥२४॥ तद्भूतस्थानादग्निवदित चेत्तदपवर्गस्तदर्थत्वात् ॥२५॥ अग्निवदिति चेत् ॥२६॥ न प्रयोगसाधारण्यात् ॥२७॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥२८॥ तद्धि तथेति चेत् ॥२९॥ नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वाच्च ॥३०॥ विध्ये-

कत्वादिति चेत् ॥३१॥ न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत् ॥३२॥ लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थलोपात् ॥३३॥ यज्ञायुधानि धार्येरन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत् ॥३४॥ यजमानसंस्कारो वा तदर्थः श्रूयते तत्र यथाकामी तदर्थत्वात् ॥३५॥ मुख्यस्य धारणं वा मरणस्यानियतत्वात् ॥३६॥ यो वा यजनीयेऽहनि म्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेषवत् ॥३७॥ न शास्त्रलक्षणत्वात् ॥३८॥ उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत् ॥३९॥ शब्दासामञ्जस्यमिति चेत् ॥४०॥ तथाऽऽशिरे ॥४१॥ शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्र कद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद्भूतोपदेशः ॥४२॥ प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन ॥४३॥ अग्न्याधेये वाऽविप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तित्वात् ॥४४॥ प्रतिपत्तिर्वा यथाऽन्येषाम् ॥४५॥ उपरिष्टात्सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि प्रकृतिकालः ॥४६॥ अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत् ॥४७॥ उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितिरत्र ॥४८॥ प्रकृतिकालासत्तेः शास्त्रवतामिति चेत् ॥४९॥ न श्रुतिप्रतिषेधात् ॥५०॥ विकारस्थान इति चेत् ॥५१॥ न चोदनापृथक्त्वात् ॥५२॥ उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वनङ्गत्वाद्यथा निष्कर्षेऽनन्वयः ॥५३॥ वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थलोपादनन्वयः ॥५४॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

चोदनैकत्वाद्राजसूयेऽनुक्तदेशकालानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि ॥१॥ प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टिवदङ्गभूतत्वात्समुदायो हि; तन्निर्वृत्त्या तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात् ॥२॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३॥ अविभागः स्यादिति चेत् ॥४॥ नोपदिष्ट-

त्वात् ।।५।। लाघवात्प्रतिपत्तिश्च ।।६।। प्रयोजनैकत्वात् ।।७।। विशेषार्था पुनः श्रुतिः ।।८।। अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ।।९।। वचनात्कामसंयोगेन ।।१०।। क्रत्वार्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात् ।।११।। पवमानहविःष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनैकत्वात् ।।१२।। लिगङ्दर्शनाच्च ।।१३।। वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात् ।।१४।। सहत्वे नित्यानुवादः स्यात् ।।१५।। द्वादशाहे तत्प्रकृतित्वादेकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात् ।।१६।। अह्नां वा श्रुतिभूतत्वात्तत्र साङ्गं क्रियेत यथा माध्यन्दिने ।।१७।। अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सह प्रयोगः स्यादाग्नेयाग्नीषोमीयवत् ।।१८।। साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानां विकारःस्यात् ।।१९।। तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ।।२०।। दीक्षोपसदां च सङ्ख्या पृथक् पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात् ।।२१।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२२।। चोदनापृथक्त्वे त्वैकतन्त्र्यं समवेतानां कालयंयोगात ।।२३।। भेदस्तु; तद्भेदात्कर्मभेदः; प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ।।२४।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२५।। श्वःसुत्यावचनं तद्वत् ।।२६।। पश्वतिरेकश्च ।।२७।। सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयादावाहनवत् ।।२८।। अपि वेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यादुपलक्षणं कालस्य लक्षणार्थत्वाद् विभागाच्च ।।२९।। पशुगणे कुम्भीशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्रभावः स्यात् ।।३०।। भेदस्तु सन्देहाद्देवतान्तरे स्यात् ।।३१।। अर्थाद्वा लिङ्गकर्म स्यात् ।।३२।। अयाज्यत्वाद्वसानां भेदः स्यात्स्वयाज्याप्रदानत्वात् ।।३३।। अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात् ।।३४।। सकृदिति चेत् ।।३५।। न कालभेदात् ।।३६।। जात्यन्तरेषु भेदः पक्तिवैषम्यात् ।।३७।। वृद्धिदर्शनाच्च ।।३८।। कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यसङ्ख्यानाम् ।।३९।। प्रतिप्रधानं वा प्रकृतिवत् ।।४०।। सर्वेषां चाभिप्रथनं स्यात् ।।४१।। एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यातमेककर्मत्वम् ।।४२।। द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुनः प्रयोगान्मन्त्रस्य च तद्गुणत्वात् पुनः प्रयोगः

स्यात्तदर्थेन विधानात् ।।४३।। निर्वपणलवन स्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्यवत्प्रयोजनैकत्वात् ।।४४।। द्रव्यान्तरवद्वा स्यात्तत्संस्कारात् ।।४५।। वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ।।४६।। एकस्य वा गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्; तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात् ।।४७।। कण्डूयने प्रत्यङ्ग कर्मभेदात् स्यात् ।।४८।। अपि व चोदनैककाल-मेककर्म्यं स्यात् ।।४९।। स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु चैवम् ।।५०।। प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्तेः ।।५१।। उपरवमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवत् बहुवचनात् ।।५२।। न सन्निपातित्वादसन्निपाति-कर्मणां; विशेषग्रहणे कालैकत्वात्सकृत् वचनम् ।।५३।। हविष्कृद-ध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदास्यात् ।।५४।। अध्रि-गोश्च विपर्यासात् ।।५५।। करिष्यद्वचनात् ।।५६।।

।। चतुर्थ पाद समाप्त ।।

।। एकादशोऽध्यायः समाप्त ।।

द्वादशोऽध्याय

प्रथम पाद

तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वम तुल्येषु तु भेदः स्यात् विधिप्रक्रमतादर्थ्यादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात् ।।१।। गुण-कालविकाराच्च तन्त्रभेदः तन्त्रभेदः स्यात् ।।२।। तन्त्रमध्ये विधा-नाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धिः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात् ।।३।। विका-राच्च न भेदः स्यादर्थस्याविकृतत्वात् ।।४।। एकेषां चाशक्यत्वात् ।।५।। एकाग्निवच्च दर्शनम् ।।६।। जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्र प्रतिषेधः स्यात् ।।७।। नानार्थत्वात्सोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदि-कर्म स्यात् ।।८।। अकर्म वा कृतदृष्टा स्यात् ।।९।। प्राप्तेषु च प्रसङ्गः

स्याद्धोमार्थत्वात् ।।१०।। न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसङ्गः स्यात् ।।११।। शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात् ।।१२।। श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात् ।।१३।। हविर्धाने निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात् ।।१४।। अप्रसिद्धिर्वाऽन्यदेशत्वात् प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात् ।।१५।। अनसां च दर्शनात् ।।१६।। तद्युक्तं च कालभेदात् ।।१७।। मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् ।।१८।। धारणार्थत्वात्सोमेऽग्न्यन्वाधानं न विद्यते ।।१९।। तथा व्रतमुपेतत्वात् ।.२०।। विप्रतिषेधाच्च ।।२१।। सत्यवदिति चेत् ।।२२।। न संयोगपृथक्त्वात् ।।२३।। ग्रहार्थं च पूर्वमिष्टेस्तदर्थत्वात् ।।२४।। शेषवदिति चेत् ।।२५।। न वैश्यदेवो हि ।।२६।। स्याद्व्यपदेशात् ।।२७।। न गुणार्थत्वात् ।।२८।। सन्नहनञ्च वृत्तत्वात् ।।२९।। अन्यविधानादारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्त्यर्थम् ।।३०।। शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात् ।।३१।। भृतत्वाच्च परिक्रयः ।।३२।। शेषभक्षास्तथेति चेत् ।।३३।। न कर्मसंयोगात् ।।३४।। प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियेत ।।३५।। ब्रह्मापीति चेत् ।।३६।। न प्राङ्नियमात्तदर्थं हि ।।३७।। निर्दिष्टस्येति चेत् ।।३८।। नाश्रुतत्वात् ।।३९।। होतुस्तथेति चेत् ।।४०।। न कर्मसंयोगात् ।।४१।। यज्ञोत्पत्त्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत ।।४२।। न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि ।।४३।। देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तते ।।४४।। सन्नहनहरणे तथेति चेत् ।।४५।। नान्यार्थत्वात् ।।४६।।

।। प्रथम पाद समाप्त ।।

द्वितीय पाद

विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात् ।।१।। मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् ।।२।। निर्देशाद् वैदिकानां स्यात् ।।३।। सति

चोपासनस्य दर्शनात् ।।४।। अभावदर्शनाच्च ।।५।। मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाहुतिसंयोगात् ।।६।। वाक्यशेषो वा दक्षिणा स्मिन्नारभ्य विधानस्य ।।७।। सवनीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पशु-पुरोडाशो; न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात् ।।८।। क्रिया वा देवतार्थ-त्वात् ।।९।। लिङ्गदर्शनाच्च ।।१०।। हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात्; प्रकृतौ यदि सर्वार्था पशुं प्रत्याहुता सा कुर्याद्विद्यमानत्वात् ।।११।। पशौ तु संस्कृते विधानात्तार्तीयसवन-(नि-) केषु स्यात्सौम्या-श्विनयोश्चापवृक्तार्थत्वात् ।।१२।। योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्गः स्यात् ।।१३।। निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्ति स्यात्प्रत्यक्ष-शिष्टत्वात् ।।१४।। कालवाक्यभेदाच्च तन्त्रभेदः स्यात् ।।१५।। वेद्यु-द्धननव्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात् ।।१६।। तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत् ।।१७।। वैगुण्याद्धिमावर्हिर्न साधयेदग्न्याधानं च यदि देवतार्थम् ।।१८।। आरम्भणीया विकृतौ न स्यात् प्रकृति-कालमध्यत्वात्कृता; पुनस्तदर्थेन ।।१९।। स्याद्वा कालस्याशेषभूत-त्वात् ।।२०।। प्रारम्भविभागाच्च ।।२१।। विप्रतिषिद्धधर्माणां-समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ।।२२।। मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोक-वत् ।।२३।। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।२४।। अङ्गगुणविरोधे च ताद-र्थ्यात् ।।२५।। परिधिर्द्व्यर्थत्वादुभयधर्मा स्यात् ।।२६।। यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात् ।।२७।। इतरो वा तस्य तत्र विधानात् ।।२८।। उभयोश्चाङ्गसंयोगः ।।२९।। पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वै-कृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात् ।।३०।। पाशुकं वा तस्य वैशेषिकाम्ना-नात्तदनर्थकं विकल्पे स्यात् ।।३१।। पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् ।।३२।। अपूर्वं च प्रकृतौ; समानतन्त्रा चेदनित्यत्वाद-नर्थकं हि स्यात् ।।३३।। अधिकाश्च गुणः साधरणेऽविरोधात्कांस्य-भोजिवदमुख्येऽपि ।।३४।। तत्प्रवृत्त्या तु तन्त्रस्य नियमः स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन ।।३५।। न वाऽविरोधात् ।।३६।। अशास्त्रलक्ष-णाच्च ।।३७।।

।। द्वितीय पाद समाप्त ।।

तृतीय पाद

विश्वजिति वत्सत्वङ्नामधेयादितरथा तन्त्रभूयस्त्वादहृतं स्यात् ॥१॥ अविरोधो वा उपरिवासो हि वत्सत्वक् ॥२॥ अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्रनियमः स्यात् ॥३॥ आगन्तुकत्वाद्वा स्वधर्मा स्याच्छ्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात् ॥४॥ स्वस्थानत्वाच्च ॥५॥ स्विष्टकृच्छ्रवणान्नेति चेत् ॥६॥ विकारः पवमानवत् ॥७॥ अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च ॥८॥ एककर्मणि शिष्टत्वाद्गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥९॥ एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य ॥१०॥ अभ्यस्येतार्थवत्त्वादिति चेत् ॥११॥ नाश्रुतित्वात् ॥१२॥ सति चाभ्यासशास्त्रत्वात् ॥१३॥ विकल्पवच्च दर्शयति ॥१४॥ कालान्तरेर्थवत्त्वं स्यात् ॥१५॥ प्रायश्चित्तेषु चैकार्थ्यान्निष्पन्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घातः ॥१६॥ समुच्चयस्त्वदोष निर्घातार्थेषु ॥१७॥ मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ॥१८॥ विद्यां प्रति विधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य ॥१९॥ भाषास्वरोपदेशेषु ऐरवत्प्रवचनप्रतिषेधः स्यात् ॥२०॥ मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः ॥२१॥ विकारः कारणाग्रहणे ॥२२॥ तन्न्यायत्वाददृष्टोऽप्येवम् ॥२३॥ तदुत्पत्तेर्वा प्रवचनलक्षणत्वात् ॥२४॥ मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात् ॥२५॥ तन्ततवचनाद्धारायामादिसंयोगः ॥२६॥ कर्मसन्तानो वा नानाकर्मत्वादितरस्याशक्यत्वात् ॥२७॥ आघारे च दीर्घधारत्वात् ॥२८॥ मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात् ॥२९॥ सङ्ख्याविहितेषु समुच्चयोऽसन्निपातित्वात् ॥३०॥ ब्राह्मणविहितेषु च सङ्ख्यावत् सर्वेषामुपदिष्टत्वात् ॥३१॥ याज्यावषट्कारयोश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत् ॥३२॥ विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुति-

त्वात् ॥३३॥ गुणार्थत्वादुपदेशस्य ॥३४। वषट्कारे नानार्थत्वा-त्समुच्चयः ॥३५॥ हौत्रास्तु विकल्पेरन्नेकार्थत्वात् ॥३६॥ समुच्चयो वा क्रियमाणानुवादित्वात् ॥३७॥ समुच्चयं च दर्शयति ॥३८॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

जपाश्चा कमसंयुक्ताः स्तुत्याशीरभिधानाश्च याजमानेषु समुच्चयः स्यादाशीः पृथक्त्वात् ॥१॥ समुच्चयं च दर्शयति ॥२॥ याज्यानुवाक्यासु तु विकल्पः स्याद्देवतोपलक्षणार्थत्वात् ॥३॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥ क्रयणेषु तु विकल्पः स्यादेकार्थत्वात् ॥५॥ समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात् ॥६॥ समुच्चयश्च दर्शयति॥७॥ संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥८। संख्यासु तु विकल्पः स्याच्छ्रुति-विप्रतिषेधात् ॥९॥ द्रव्यविकारं तु पूर्ववदर्थकर्म स्यात् तथा विकल्पे नियमः प्रधानत्वात् ॥१०॥ द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो; द्रव्यस्य कर्म-निष्पत्तेः; प्रतिपशु कर्मभेदादेवं सति यथाप्रकृति ॥११॥ कपालेऽपि तथेति चेत् ॥१२॥ न कर्मणः परार्थत्वात् ॥१३॥ प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ॥१४॥ शृतेऽपि पूववत्त्वात्स्यात् ॥१५॥ विकल्पे त्वर्थ-कर्म नियमप्रधानत्वात् , शेषे च कर्मकार्यसमवायात्तस्मात्तो-नार्थकर्म स्यात् ॥१६॥ उखायां काम्यनित्यसमुच्चयो; नियोगे कामदर्शनात् ॥१७॥ असति चासंस्कृतेष कर्म स्यात् ॥१८॥ तस्य च देवतार्थत्वात् ॥१९॥ विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥२०॥ वचनाद-संस्कृतेषु कर्मस्यात् ॥२१॥ संसर्गे चापि दोषः स्यात् ॥२२॥ वचना-दिति चेद् ॥२३॥ तथेतरस्मिन् ॥२४॥ उत्सर्गे अपि परिग्रहः कर्मणः कृतत्वात् ॥२५॥ स आहवनीयः स्यादाहुति संयोगात् ॥२६॥ अन्यो वोद्धृत्याऽऽहरणात् ॥२७॥ तस्मिन्संस्कारकर्म शिष्टत्वात् ॥२८॥ स्थानाद्वा परिलुप्येरन् ॥२९॥ नित्यधारणे विकल्पो; न ह्यकस्मा-

त्प्रतिषेधः स्यात् ॥३०॥ नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधो गतश्रियः ॥३१॥ परार्थान्येको यजमानगणे ॥३२॥ अनियमोऽविशेषात् ॥३३॥ मुख्यो वाऽविप्रतिषेधात् ॥३४॥ सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत् ॥३५॥ आम्नायवचनाच्च ॥३६॥ सर्वे वा तदर्थत्वात् ॥३७॥ गृहपतिरिति च समाख्या सामान्यात् ॥३८॥ विप्रतिषेधे परम् ॥३९॥ हौत्रे परार्थत्वात् ॥४०॥ वचनं परम् ॥४१॥ प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात् ॥४२॥ स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् ॥४३॥ फलचमसविधानाच्चेतरेषाम् ॥४४॥ सान्नाय्येऽप्येवं प्रतिषेधः सोमपीथहेतुत्वात् ॥४५॥ चतुर्धाकरणे च निर्देशात् ॥४६॥ अन्वाहार्ये दर्शनात् ॥४७॥

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥

॥ द्वादशोऽध्याय समाप्त ॥

पूर्वमीमांसादर्शनं सम्पूर्णम्

सारांश

'मीमांसा-दर्शन' कर्मकाण्ड मूलक धर्म का प्रतिपादन करता हुआ भारतीय-संस्कृति के इतिहास के एक काल-विशेष का दिग्दर्शन कराता है। जिस समय यज्ञ-प्रणाली ने यहाँ के जन-जीवन में पूरी तरह से घर लिया था और प्रत्येक बड़ा तथा छोटा व्यक्ति किसी न किसी रूप में यज्ञ में भाग लेकर अपने परलोक को सुधारने की कामना रखता था, जब कि इस देश के एक बड़े भू-भाग में "स्वर्ग कामोयजेत" (स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ करो) की घोषणा गूँज रही थी, वह एक अद्भुत समय था जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। साधारण ग्रामों और कस्बों में भी यज्ञ-धूम उठता दिखाई पड़ता था और सर्वत्र 'स्वाहा' की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। देश का वातावरण आहुति रूप में डाली जाने वाली सामग्री से सुगन्धित बना रहता था और सर्वत्र एक धार्मिक उत्साह तथा यज्ञ सम्बन्धी उत्सवों की चहल-पहल दिखाई पड़ती रहती थी।

उस समय यज्ञानुष्ठान कराना, यज्ञों का सञ्चालन करना एक बहुत बड़ा और प्रतिष्ठित कार्य हो गया था। लोग जी खोल कर इसके लिये खर्च करते थे, अनेकों तो सर्वस्व दान कर देते थे। महाराज हर्ष का समय-समय पर प्रयाग आकर विशाल यज्ञ करना और अपनी सम्पूर्ण सम्पति तथा प्रत्येक वस्तु यज्ञ-दक्षिणा रूप में दान कर देना इतिहास प्रसिद्ध बात है। यज्ञ की साधारण दक्षिणा मीमांसा-दर्शन में ही १२ सौ रुपये लिखी है जो आजकल के हिसाब से एक लाख के लगभग समझी जा सकती है। एक यज्ञ में १७ यज्ञ कराने वाले ऋत्विज नियत किये जाते थे और इनके अतिरिक्त साधारण कार्य करने वाले अनेक सेवक भी रहते थे। बड़े-बड़े यज्ञों में हजारों दर्शकों की भीड़ भी इकट्ठी हो जाती थी। जिस प्रकार आजकल, धर्मोत्सव, प्रदर्शिनी, सार्वजनिक संस्थाओं के वार्षिक अधिवेशन आदि के अवसर पर मेले की सी भीड़-भाड़ और

चहल-पहल हो जाती है, वैसा ही दृश्य उस समय भी दिखाई, पड़ता था।

यज्ञों में विकृतियों का प्रादुर्भाव—

पर जब यज्ञों का प्रचार खूब बढ़ गया और उनमें बड़े लोग पर्याप्त दक्षिणा देने लगे तो काल-प्रभाव से उनमें कुछ विकृतियाँ भी उत्पन्न होने लगीं और उसने एक पेशे का रूप धारण कर लिया। बड़े-बड़े पण्डित यदि किसी यज्ञ के संचालन को बुलाये जाते तो वे उसमें अपने ही कुटुम्बियों, सम्बन्धियों, इष्ट-मित्रों को ऋत्विज के रूप में रखने का प्रयत्न करते और दूसरे लोगों को जहाँ तक सम्भव होता रोकने की चेष्टा करते। इस प्रकार यज्ञों का धार्मिक भाव और सात्त्विक वातावरण बदल कर वे प्रतियोगिता और स्वार्थ साधन के अखाड़े बनने लग गये।

इसका एक कुफल यह हुआ कि यज्ञ कराने वालों का ध्यान कर्मकाण्ड के यथातथ्य होने के बजाय आपापूती और तरह-तरह से दक्षिणा की रकम के बढ़ाने पर अधिक जाने लगा। वे लोग जैसी परिस्थिति देखते वैसा ही कार्य करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे। विशेष धनवान यजमानों से रुपया वसूल करने के लिये वे विधि-विधान का बहुत अधिक विस्तार कर डालते और पचासों छोटी-छोटी यज्ञ के अन्तर्गत क्रियाओं के लिये पृथक-पृथक दक्षिणा लेने का प्रयत्न किया करते थे।

यज्ञ कराने वालों की मनोवृत्ति के इस प्रकार संकीर्ण और स्वार्थ-परायण बन जाने से यज्ञ-विधि तथा उनकी प्रधान और गौण क्रियाओं के सम्बन्ध में तरह-तरह के मतभेद पैदा हो गये और कितने ही स्थानों में वे एक दूसरे से भिन्न प्रकार से क्रियायें कराने लगे। कितने ही हीन-मनोवृत्ति के तथा कर्तव्यशून्य पण्डित अपने धनदाता यजमान की खुशी का ही सब से अधिक ध्यान रखते थे और उनकी सुविधानुसार क्रियाओं में अन्तर कर देते थे। परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार सौ, दो सौ वर्ष

तक मनमानी चलने से यज्ञ के स्वरूप तथा उसकी मुख्य क्रियाओं में बहुत अन्तर पड़ गया और इससे यज्ञ-कर्म की भी अवनति होने लग गई।

इस परिस्थिति में महर्षि जैमिनि का आविर्भाव हुआ। वे वेदान्त-दर्शन के रचयिता महर्षि वादरायण के शिष्य थे, पर स्वतन्त्र विचारक होने के कारण कितनी ही बातों में उनका अपने गुरु से मतभेद भी था और उन्होंने उनसे पृथक एक स्वतन्त्र दर्शन-मार्ग की स्थापना की। उन्होंने कर्मकाण्ड को धर्म का मूल साधन बतलाया और उसका मुख्य स्रोत वेद को कहा। उन्होंने यह घोषणा की, धर्म की जो कुछ व्याख्या वेद में की गई है उसी को स्वीकार करना और तदनुसार आचरण करना मनुष्य का कर्तव्य है और इसी से वह स्वर्ग तथा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

मीमांसा-दर्शन के मुख्य सिद्धान्त—

महर्षि जैमिनि का धर्म के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है और वे उसकी सिद्धि का क्या उपाय वतलाते हैं इसका कुछ परिचय पाठकों को आरम्भिक छः अध्यायों की टीका और उनके अन्त में दी गई टिप्पणियों से मिल सकता है। पर इस दर्शन की शङ्का समाधान अथवा प्रश्नोत्तर की प्रणाली ऐसी अनोखी है और उसमें क्रियाओं सम्बन्धी मतभेद को हर जगह इतना उठाया गया है कि साधारण पाठक मूल विषय का मर्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त कर सकता है। यह प्रणाली शास्त्रार्थ की दृष्टि से तो विशेष उपयोगी है, पर कोई भी पाठक उसके कारण भूल भुलइयां-सी में पड़ जाता है और प्रयत्न करने पर भी उसका सार सहज में नहीं समझ पाता। इस कठिनाई को हल करने के लिये हम 'सर्व दर्शन संग्रह' से मीमांसा-दर्शन के मुख्य प्रचारक कुमारिल भट्ट और उनके प्रमुख शिष्य प्रभाकर के मत का सार यहाँ देते हैं—

"सृष्टि रचना" में पाँच पदार्थ मुख्य है—द्रव्य, गुण, कर्म,

सामान्य और परतन्त्रता। ये पाँचों पदार्थ शक्ति, सादृश्य और संख्या के विचार से आठ प्रकार के हैं। मुक्ति केवल वेद में कहे हुये कर्मों का पालन करने से ही हो सकता है। जो फल की कामना से कर्म करते हैं अथवा जो निषिद्ध कर्म करते हैं वे बन्धनों में फँसे रहते हैं। वेद के चार मुख्य भाग हैं—विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय। इन सब में प्रधान विधि है, जिससे धर्म और अधर्म का बोध होता है। संसार में जानने योग्य 'आत्मा' ही है। वह बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर तीनों से भिन्न है। वह विभु (व्यापक) तथा ध्रुव (परिवर्तन रहित) है। जब हम किसी बाह्य विषय के अर्थ पर ध्यान देते हैं तो वह आत्मा हर क्षेत्र में अलग-अलग प्रतीत होता है। जैसे यह कहा जाय कि "मैं घड़े को जानता हूँ" तो इसमें तीन प्रकार का ज्ञान प्रकट होता है। (१) घड़ा तो विषय है, (२) ज्ञाता मैं हूँ, (३) ज्ञान जो स्वयं प्रकाशवान है।

"कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार संसार से मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त दुःख का नाश होना आवश्यक है उसी प्रकार दुःख द्वारा उत्पन्न किये हुये सुख का भी नाश होना आवश्यक है। पर निर्गुण भाव वाले को मुक्ति के नित्यानन्द का अनुभव भी नहीं हो सकता। इसलिये जो सामान्य मनुष्य कर्मों में लिप्त है उनकी बुद्धि में भेद न करना चाहिये। संन्यासियों का मार्ग और है और कर्म में लिप्त मनुष्यों का मार्ग उससे भिन्न है। इसलिये वेदों में बताये यज्ञ आदि कर्म अवश्य करने चाहिये, यदि ऐसा न किया जायगा तो जो लोग कर्म के अधिकारी बना कर उत्पन्न किये गये हैं उनको पाप लगेगा। जो कर्म का आश्रय लेकर ही रहते हैं वे अपूर्व सुख पायेंगे। जो इन कर्मों को करता है वही देवता है।"

वेदान्त तथा अन्य उपनिषदों का यह मत है कि ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को सब प्रकार के कर्म पूर्णतः त्याग देना चाहिये, क्योंकि

सब प्रकार के कर्म बन्धककारक हैं। यदि पाप कर्मों से नरक जाना पड़ता है तो पुण्य-कर्मों का फल स्वर्ग प्राप्ति होता है। इस दृष्टि से पुण्य-कर्म प्रशंसनीय हैं, पर उनको करते हुये भी मनुष्य को बन्धन में अवश्य रहना पड़ता है। इसलिये "मीमांसा-शास्त्र" का सिद्धान्त है कि मनुष्य वेद विहित कर्म तो अवश्य करे, उनको त्यागने से तो पाप लगता है, पर वे निष्कांम भावना से किये जायँ। इस विषय में कुमारिल भट्ट का मत इस प्रकार है—

त्यक्त्वा काम्यनिषिद्धे द्वे विहिताचरणान्नरः।
शुद्धान्तःकरणो ज्ञानी परं निर्वाण मृच्छति॥
काम्यकर्माणि कुर्वाणैः काम्य कर्मानुरूपतः।
जनित्वैवोपभोक्तव्यं भूयः काम्यफलं नरैः॥
कृमि कीटादि रूपेण जनित्व तु निषिद्धकृतः।
निषिद्ध फल भोगी स्याद्धोऽधो नरकं व्रजेत॥
अतो विचार्य विज्ञेयो धर्माऽधर्मो विपश्चिता।
चोदनैक प्रमाणौ तौ व प्रत्यक्षादिगोचरौ॥

अर्थात्—"जो मनुष्य वेद विहित कर्मों को करता रहता है और काम्य-कर्म (फल की इच्छा से किये जाने वाले कर्म) तथा निषिद्ध कर्मों (शास्त्रों में निषेध किये बुरे कर्म) को त्याग देता है वह अन्तः-करण के शुद्ध हो जाने से निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त होता है। स्वर्ग, या वैभव आदि फल पाने की इच्छा से जो 'काम्य कर्म' किये जाते हैं, उनका फल किसी योनि में जन्म होने पर ही भोगा जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक 'काम्य-कर्म' करते रहोगे तब तक शरीर धारण करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार निषिद्ध (बुरे) कर्मों के करने पर प्राणी कीड़े मकोड़े, पशु-पक्षी का जन्म धारण कर उनके फलों को भी भोगेगा ही और क्रमशः नरक को प्राप्त हो जायगा। इसलिये जो बुद्धिमान व्यक्ति वास्तव में अपना कल्याण चाहते हैं उनको धर्म-अधर्म

के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये । इस सम्बन्ध का ज्ञान वेदों से ही हो सकता है, प्रत्यक्ष प्रमाणों से इसका कोई पता नहीं लग सकता ।"

आगे चल कर बतलाया है कि "वेद का वह अंश जो मनुष्यों को किसी अयोग्य काम के करने से रोकता है या किसी काम की प्रेरणा देता है, विधि या चोदना कहलाता है। वह आज्ञा अथवा प्रेरणा के रूप में कहा गया है ।"

"वेद के जो वाक्य किसी निषिद्ध बात की निन्दा और विहित बात की प्रशंसा करते हैं वे अर्थवाद कहलाते हैं। ऐसे वाक्यों से 'विधि' का समर्थन, पुष्टि होती है इसलिये उनको भी प्रामाणिक माना जाता है ।"

"वेदों का तीसरा अङ्ग मन्त्र है जिसका प्रयोग यज्ञ करते समय किया जाता है और जिससे यज्ञ की अनुष्ठेय बातों पर प्रकाश पड़ता है। अनुष्ठेय का आशय उस बात से है जिसके लिये यज्ञ किया जाता है। चौथा भाग नामधेय कहा जाता है। उसमें यागों के नाम और उनकी व्याख्या आदि का समावेश होता है ।"

कुमारिल ने वेदों के अनादि और अपौरुषेय होने पर बहुत जोर दिया है, क्योंकि उस समय बौद्ध लोगों से मुख्य विवाद इसी विषय पर था कि 'वेदों के प्रमाण को क्यों स्वीकार किया जाय ?" बौद्ध मत वाले स्पष्टतया वेदों की सत्यता और प्रामाणिकता से इनकार करते थे। इसका वर्णन "सर्व दर्शन संग्रह" में इस प्रकार किया गया है—

दूषन्त्यनुमानाभ्यां बौद्धा वेदमपिस्फुटम् ।
तन्मूललब्ध धर्मादेरपलपस्तुसिध्यति ॥
वेदोऽप्रमाणं वाक्यत्वान्यथा पुरुष वाक्यवत् ।
[illegible] यथा वचः ॥

अर्थात्—"बौद्ध लोग मनमाने ढङ्ग से स्पष्टतया वेदों पर दोषारोपण करते हैं। इससे जो धर्म-कर्म वेदों के अनुसार किये जाते हैं उनको भी खण्डित करते हैं। वे कहते हैं कि वेद प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे उसी प्रकार के वाक्य हैं जैसे रास्ते में चलने वाले सामान्य मनुष्यों के हुआ करते हैं। वे आप्त पुरुषों के नहीं वरन् पागलों की-सी वातें जान पड़ते हैं।"

इसका उत्तर देते हुये कुमारिल कहते हैं कि "बौद्धों के दिये हुये ये दोनों हेतु ठीक नहीं हैं और उनसे वेदों का खण्डन नहीं हो सकता। यह कोई युक्ति नहीं है कि वेदों में वाक्य हैं, इससे वे प्रामाणिक नहीं हो सकते। यह कथन भी अयुक्त है कि वेद आप्त पुरुषों के वाक्य नहीं इससे अप्रामाणिक हैं। यदि आप्त ने कोई साधारण बात कही हो तो उसे प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं, किन्तु वेद तो भगवद्-वाक्य हैं, उन पर साधारण मनुष्यों के वाक्यों की दलील लागू नहीं हो सकती। वेद तो नित्य हैं, उनके विषय में आप्त-वाक्य होने का प्रश्न उठाना निरर्थक है। धोखे आदि की बातें साधारण मनुष्यों के वाक्यों के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं, वेदों के सम्बन्ध में उनका जिक्र करना व्यर्थ है।" आगे चल कर कुमारिल वेदों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

वेदस्या पौरुषेयत्वाद् दोषाशंकैव नास्तिनः।
वेदस्या पौरुषेयत्वं केचिन्नं यापिकादयः॥
दूषयन्तीश्वरोक्तत्वान्मन्यमानाः प्रमाणताम्।
पौरुषेयो भवेद्वेदो वाक्यत्वाद्भारतादिवत्॥
सर्वेश्वर प्रणीतत्वे प्रामाण्यमपि सुस्थितम्।
प्रमाण्यं विद्यतेनेति पौरुषेयेषुयुज्यते॥
वेदेवक्तुरभावाच्च तद्वार्वापि सुदुर्लभा।
वेदस्य नित्यता प्रोक्ता प्रामाण्येनापयुज्यते॥

अर्थात्—"वेदों पर शंका करने की कोई गुञ्जायश इसलिये

नहीं कि वे अपौरुषेय हैं। कुछ नैयायिक (न्याय-दर्शन के अनुयायी) वेदों को प्रामाणिक तो मानते हैं, पर वे उनको अपौरुषेय स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि जैसे महाभारत आदि को किन्हीं मनुष्यों ने रचा है उसी प्रकार वेद भी पौरुषेय हैं। पर उनका कथन ठीक नहीं है। वेदों का बनाने वाला कोई नहीं पाया जाता। वेदों को 'नित्य' कहा जाता है और यही उनको अपौरुषेय (ईश्वर द्वारा रचित) और प्रमाण स्वरूप मानने के लिये पर्याप्त है।" इस पर आक्षेप-कर्ता पुनः शङ्का उपस्थित करते हैं—

सर्वेश्वर प्रणीतत्व प्रमाण्यस्यैव कारणम्।
तदयुक्तं प्रमाणेन केनात्रेश्वर कल्पना॥
स यद्यागम कल्पस्यान्नित्योऽनित्यः किमागमः।
नित्यश्चेत्तं प्रतीशस्य कथं कर्तृत्व कल्पना॥
अनित्यागमपक्षे स्यादन्योऽन्याश्रयदूषिताम्।
आगमस्य प्रमाणत्वमीश्वरोक्त्येश्वरस्ततः॥
आगमात्सिध्यतोत्येवमन्योऽन्याश्रय दूषणम्।
स्वतः एव प्रमाणत्वमतो वेदस्य सुस्थितम्॥

अर्थात्—"यह दलील देना कि वेदों का प्रमाण इनके ईश्वर प्रणीत होने पर निर्भर है, ठीक नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में पहली शङ्का तो यह है कि ईश्वर की कल्पना किस आधार पर करते हो ? अगर कहो कि ईश्वर के होने का प्रमाण वेदों से मिलता है तो यह बतलाओ कि वेद नित्य है अथवा अनित्य ? यदि वे नित्य हैं तो उनको ईश्वर द्वारा बनाये जाने की बात कैसे कह सकते हैं ? यदि वेदों को अनित्य कहते हों तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा, क्योंकि वेदों की प्रामाणिकता के लिये उनका ईश्वर द्वारा बनाया जाना आवश्यक है और ईश्वर की सिद्धि के लिये वेदों का ही प्रमाण दिया जाता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर की सत्यता एक दूसरे पर ही निर्भर होने

से माननीय नहीं हो सकती।" वेदों के अपौरुषेय होने के विरुद्ध दूसरी दलील योग सिद्धान्त वालों की इस प्रकार है—

धर्माधर्मौ च वेदैकगोचरावित्यपिस्थितम्।
ननुवेदं विना साक्षात्करामलकवत्स्फुटम्॥
पश्यन्ति योगिनो धर्मं कथं वेदैकमानता।
तदयुक्तं न योगी स्यादस्मदादिविलक्षणः॥

अर्थात्—"यदि यह कहा जाय कि धर्म-अधर्म का भेद केवल वेद से ही मालूम होता है तो यह शङ्का होती है कि जब योगी लोग योग बल से धर्म और अधर्म को हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट देख लेते हैं तो वेदों का महत्व कहाँ रहा ?।" नैयायिक और योगी, दोनों की शङ्काओं का उत्तर कुमारिल इस प्रकार देते हैं।

सोपि पंचेन्द्रियैः पश्यन् विषयंनातिरिच्यते।
प्रत्यक्षमनुमानाख्यमुपमानमेनन्तरम्॥
अर्थापत्तिर भावश्च न धर्मं बोधयन्ति वै।
तत्तदिन्द्रिययोगेन वर्तमानार्थबोधकम्॥
प्रत्यक्षं नहि गृह्णाति सोऽप्यतीतमनागतम्।
धर्मेण नित्य सम्बन्धिरूपस्याभावतः क्वचित्॥
नानुमानमपि व्यक्तं धर्माधर्मादिबोधकम्।
धर्मादि सदृशाभावादुपमानमपि क्वचित्॥
सादृश्यग्राहकं नैव धर्माधर्मादिबोधकम्॥
सुखस्यं कारणं धर्मो दुःखस्याधर्म इत्यपि॥
अर्थापत्यात्र सामान्यमात्रे ज्ञातेन दुष्यति।
सामान्यमननुष्ठेयं किञ्चातीतं तदाभवेत्॥

अर्थात्—"योगी लोगों में कुछ भी विलक्षणता नहीं है, क्योंकि उनका ज्ञान भी हमारी तरह पाँच इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये सब प्रमाण

भी धर्म को नहीं बता सकते। प्रत्यक्ष इन्द्रियों के साथ संयोग होने से वर्तमान की बात बताता है। प्रत्यक्ष से भूत अथवा भविष्यत् की बात मालूम नहीं होती। चूँकि धर्म के साथ किसी अन्य चीज का नित्य सम्बन्ध नहीं है अतः अनुमान से भी धर्म-अधर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। चूँकि धर्म का किसी अन्य वस्तु से सादृश्य नहीं है इससे उपमान भी धर्म-अधर्म के जान सकने में सहायक नहीं हो सकता। यदि अर्थापत्ति के आधार पर यह कहा जाय कि धर्म सुख का कारण है और अधर्म दुःख का, तो यह ठीक है, पर इसका भी सदा के लिये सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता और जब बात बीत गई तो उसके जानने से क्या लाभ ? अर्थात् यदि सुख के प्राप्त हो जाने के पश्चात् यह विदित हुआ कि सुख धर्म के कारण हुआ तो ऐसे ज्ञान से क्या परिणाम निकल सकता है ? 'अभाव' प्रमाण भी धर्म-अधर्म का बोध कराने में असमर्थ है, क्योंकि वह तभी काम करता है जब पाँचों प्रमाण न करें। इस प्रकार अन्य सब साधनों के व्यर्थ हो जाने पर यही सिद्ध होता है कि धर्म और अधर्म का बोध वेदों द्वारा ही सम्भव है।"

इस प्रकार उस समय के प्रचलित अन्य मतों की समीक्षा करके कुमारिल 'मीमांसा' का सिद्धान्त इन शब्दों में व्यक्त करते हैं।

"वेदों में बताये हुये कर्म ही मोक्ष देने वाले हैं अन्य नहीं। इस लिये जिसको मोक्ष की इच्छा हो उसे चाहिये काम्य और निषिद्ध कर्मों से बचा रहे। पाप से बचने की इच्छा से नित्य और नैमित्तिक कर्तव्यों को करना चाहिये। यह जो कहा गया है कि 'आत्मा को जानना चाहिये' यह ज्ञान आत्मा को प्रत्याहार और अन्य विहित कर्म करने से स्वयं ही मन तथा इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा भिन्न और अभिन्न (सत् और असत्) दोनों है, वह जीव रूप से भिन्न है और परमात्मा रूप से अभिन्न है। जीव रूप से सत् है और परमात्मा रूप से असत् है।

इस प्रकार आत्म-सत्ता का निरूपण करके कुमारिल 'मीमांसा' के अनुसार मोक्ष के उद्देश्य की प्राप्ति का कथन करते हैं, क्योंकि वही प्रत्येक सिद्धान्त अथवा साधन-प्रणाली का अन्तिम लक्ष्य है—

परानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षेतु विषयादृते।
विषयेषु विरक्तास्स्युर्नित्यानन्दानुभूतितः।
गच्छन्त्य पुनरावृत्तिं मोक्षमेव मुमुक्षवः॥

अर्थात्—"मोक्ष होने पर विषयों का अन्त हो जाता है और परमानन्द का अनुभव होता है। नित्यानन्द का अनुभव करने वाला मुमुक्ष विषयों से विरक्त हो कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता।"

आचार्य प्रभाकर का मत—

मीमांसा-शास्त्र के दूसरे प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकर 'जगत' की सत्ता को वास्तविक मानते हैं और इस दृष्टि से उनका मत न्याय तथा वैशेषिक से मिलता है। वैशेषिक के समान ही ये चौवीस गुण मानते हैं, यद्यपि उनमें से दो चार को हटाकर उनके स्थान अन्य गुणों का नामोल्लेख किया गया है। कुमारिल के ५ के बजाय प्रभाकर ने ८ पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति और साहश्यता। प्रभाकर का 'शक्ति' एक विशेष पदार्थ है, क्योंकि उसका कथन है कि सभी वस्तुओं में एक शक्ति पाई जाती है और उसके रहने पर ही वह अपना कार्य करती है। जैसे अग्नि में जलाने की शक्ति है, पर जब तक वह शक्ति अवरुद्ध पड़ी रहती है तब तक उसका अस्तित्व होने पर भी जलाने का कार्य नहीं हो सकता।

कर्म को प्रत्यक्ष गोचर न मानकर इन्होंने 'अनुमेय' माना है। किसी क्रिया के होते समय यद्यपि हम क्रिया को आँखों से नहीं देख सकते पर उस वस्तु का एक स्थान से संयोग और दूसरी से

वियोग, होते हमको दिखाई देता है। इसी से हम कर्म के होने का अनुमान कर लेते हैं।

कर्म को ही प्रधान मानकर प्रभाकर ने भी मानवीय पुरुषार्थ का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को ही स्वीकार किया है पर उनका 'मुक्ति-निरूपण' कुमारिल से भिन्न है। उनके कथन का सारांश यह है—

करणो परमान्मुक्तिमाह वैशेषिको यथा।
दुस्सहापार संसार सागरेस्तरणोत्सुकः॥
प्रयत्न सुख दुःखेच्छा धर्माऽधर्मादिनाशतः।
पाषाणवदस्थान मात्मनो मुक्तिमिच्छति॥
दुःख साध्य सुखोच्छेदो दुःखोच्छेद वदिष्यते।
नित्यानन्दानुभूतिश्च निर्गुणस्य न चेष्यते॥

"वैशेषिक के मतानुसार 'करण' (साधन) के नाश होने से मुक्ति होती है। वह दुस्सह अपार संसार-सागर को पार करने के लिये प्रयत्न, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म का नाश करके पत्थर के समान (निर्गुण) मुक्ति चाहते हैं। वास्तव में जिस प्रकार दुःख का नाश होना चाहिये उसी प्रकार दुःख में से उद्भूत सुख का भी अन्त कर देना आवश्यक है। निर्गुण जीव को किसी प्रकार के आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती।"

तीसरे आचार्य मुरारि मिश्र का मत उपरोक्त दोनों से बहुत पृथक है। वे वास्तव में एक 'ब्रह्म' की सत्ता को ही मानते हैं। इस लिये कितने ही विद्वान इनके मत को 'ब्रह्म-मीमांसा' के नाम से पुकारते हैं। ये स्वर्ग को कहीं पृथक नहीं बतलाते वरन् सुख की पराकाष्ठा को ही स्वर्ग कहते हैं।

देवता और स्वर्ग का स्पष्टीकरण—

इस तरह मीमांसा शास्त्र मानव-जीवन, विशेषतः भारतीय-समाज से सम्बन्धित अनेक गूढ़ समस्याओं का साधन करता है। उसने

देवताओं के नाम पर कई प्रकार के यज्ञों की प्रेरणा की है, पर इससे उसका उद्देश्य तरह-तरह के छोटे-बड़े व्यक्तिगत देवी देवताओं की मान्यता का प्रसार करना नहीं है। वरन् वह इन्द्र, वायु, अग्नि आदि अनेक देवताओं को आहुति देता हुआ भी उनका लक्ष्य एक ही दैवी-शक्ति से बतलाता है। यज्ञों के प्रभाव से जनता में जो बहुदेववाद की धारणा फैल गई थी और जिसने धीरे-धीरे अन्ध-विश्वास का रूप ग्रहण कर लिया था, मीमांसा ने उसके निराकरण की चेष्टा की है। जैसे कई प्रकार की दैवी शक्तियों में प्रकाश प्रधान है, संसार के अधिकांश काम उसी से चलते हैं और उसी से प्राणियों का जीवन तथा उनकी प्रगति संभव होती है। उसी से हम को सब प्रकार के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये वेद ने भी परमात्मा का सर्व प्रथम रूप 'अग्नि' ही बतलाया और उसकी उपासना करने का आदेश दिया। भारतवर्ष के वातावरण में वर्षा का महत्व भी बहुत अधिक है और वह जीवन धारण के लिये अन्न की उत्पत्ति के लिये अनिवार्य है, इसलिये इन्द्र का भी तरह-तरह से आवाहन किया गया। पर साथ ही यह भी प्रकट किया जाता रहा कि लोग इन विभिन्न शक्तियों के मूल में स्थिति 'ब्रह्म' को भी याद रखें।

स्वर्ग के सम्बन्ध में भी मीमांसा की स्थिति स्पष्ट है। उसमें जगह-जगह स्वर्ग की प्राप्ति के लिये यज्ञों का विधान है। यदि अधिक गहराई से जाँच की जाय तो समस्त मीमांसा-दर्शन का सार ही 'स्वर्ग' है, क्योंकि 'दर्श पौर्णमास' 'ज्योतिष्टोम' जैसे सभी यागों का फल 'स्वर्ग' बतलाया गया है। पर जो लोग उसका अर्थ आकाशके किसी कोने में स्थिति कोई विशेष लोक या खास जमीन मानते हैं वे भ्रम में पड़े हैं। इसका विवेचन करते हुये भाष्यकार शबर स्वामी ने लिखा है—

"ननु, स्वर्ग शब्दे लोके प्रसिद्धो विशिष्टंदेशे, यस्मिन न उत्सां, न शीतं, न क्षुत, न तृष्णा, न अरतिः, न ग्लानि। पुण्य कृता केवल तत्र

गच्छान्ति नान्ये। अत्र उच्यते यदि तत्र केचित् अमृता गच्छान्ति, तत आगच्छन्ति अजानित्वा, तर्हि स प्रत्यक्षौ एवज्ञातीयकः ननु अनुमानात् गम्यते।"

अर्थात्---"पूर्व-पक्षी कहता है कि 'स्वर्ग' शब्द उस देश के लिये प्रयुक्त हुआ है जहाँ न अधिक गर्मी न सर्दी, न भूख, न प्यास, न भोगों में अरुचि, न ग्लानि होती है। पुण्यात्मा लोग वहाँ जाते हैं, अन्य नहीं। इसका समाधान करते हुये भाष्यकार कहते हैं कि यदि उस देश में जीवित व्यक्ति जाते हों और वहाँ से लौट कर आ जाते हों तो उसे प्रत्यक्ष माना जा सकता हैं, पर जहाँ तक बुद्धि काम करती है वहाँ तक यही कहना पड़ता है ऐसा कोई देश नहीं है।" इस पर पूर्व-पक्षी फिर कहते हैं कि "कुछ सिद्ध पुरुष उसे देख आये हैं और उसका वर्णन सुनाते हैं।" पर सिद्धान्ती कहता है कि ऐसे सिद्धों का कोई प्रमाण नहीं मिलता जो इसी देह से स्वर्ग चले जायें और आकर कथन करें। जो आख्यायिकायें इस सम्बन्ध में सुनी जाती हैं वे मनुष्यों द्वारा ही रचित हैं, इससे विश्वसनीय नहीं है।

इस प्रकार 'मीमांसा-दर्शन' का उद्देश्य ऐसे धार्मिक विषयों तथा समस्याओं पर विचार करना है जिनके सम्बन्ध में लोगों में कई प्रकार के भ्रम तथा मतभेद फैले हुये हैं। 'मीमांसा' शब्द का अर्थ ही 'विचार करना' है। विद्वानों का कथन है कि 'मीमांसा-दर्शन' का ज्ञान प्राप्त किये विना वैदिक-वाक्यों का वास्तविक आशय जान सकना संभव नहीं है। कौन-सा वाक्य अर्थवाद है और कौन-सा विधि-वाक्य है इसका निर्णय मीमांसा-शास्त्र से हो सकता है। कुछ लोग अर्थवाद के वाक्यों को निरर्थक कहते हैं, क्योंकि उनमें इन कर्मकाण्डों की प्रशंसा मात्र पाई जाती है। पर यह विचार ठीक नहीं, वास्तव में अर्थवाद के वाक्य विधि-वाक्यों के स्तुति रूप और सहायक होते हैं। उनसे लोगों में उत्साह और श्रद्धा

उत्पन्न होते हैं और कर्मों के करने की प्रेरणा मिलती है। इस दृष्टि से विचार करने पर मीमांसा 'धर्म-प्रेरणा' धार्मिक-श्रद्धा का प्रसार करने वाला सिद्ध होता है।

कर्मकाण्ड का सर्वोपरि महत्त्व—

'मीमांसा-दर्शन' के दो प्रधान विषय हैं। उसका अधिकांश भाग तो कर्म काण्ड की विधियों में उत्पन्न होगई परस्पर विरोधी बातों का निराकरण करने में लगाया गया है। उसके लिये महर्षि जैमिनि ने एक विशेष पद्धति का आविष्कार किया है जिसमें व्याकरण के नियमों से वहुत सहायता ली गई है। दूसरे विभाग में कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों की यथातथ्यता को सिद्ध करने के लिये तर्क और प्रमाणों की अवतारणा की गई है। इसके लिये मीमांसा-दर्शन कई मुख्य सिद्धान्तों को उपस्थित करके कर्मकाण्ड की वास्तविकता पर प्रकाश डालता है। (१) सर्वप्रधान प्रमाण आत्मा की अमरता का है। मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा की सत्ता स्थिर रहती है और वह अपने शुभाशुभ कर्मों का फल इसी लोक या परलोक में भोगती है। (२) मनुष्य के कर्मो का फल उसी समय नष्ट नहीं हो जाता वरन् वह किसी अनिर्वचनीय शक्ति द्वारा जिसे मीमांसा के आचार्यों ने 'अपूर्व' कहकर पुकारा है, तब तक स्थिर रहता है जब तक आत्मा उसका फल उपभोग न करले। (३) तीसरा सिद्धान्त है वेद में अटूट श्रद्धा और उसे स्वतः प्रमाण स्वीकार करना। संसार में अन्य सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य कृत होने से भ्रान्त है, पर वेद अपौरुषेय और अनादि होने से निर्भ्रान्त है और धर्म का निर्णय एक मात्र उसी के सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है। (४) चौथी बात है संसार और मानव-जीवन की वास्तविकता। मीमांसा इस दृश्य जगत को वेदान्त की तरह 'माया' अथवा 'स्वप्न' की तरह नहीं मानता, वरन् उसकी दृष्टि में यह सर्वथा सत्य और यथार्थ है। यदि इसे वास्तविक न

माना जाय तो मनुष्य में इसमें रहते हुये कर्म की प्रेरणा ही कैसे उत्पन्न होगी ?

दार्शनिक दृष्टिकोण के विचार से मीमांसा अध्यात्मवाद के वजाय भौतिकवाद की ओर विशेष ध्यान देता है। वह न्याय और वैशेषिक के समान परमाणुवादी है, अर्थात् इस जगत के वनाने विगाड़ने का खेल प्रकृति अनादि काल से करती चली आती है और सदैव करती रहेगी। इस तथ्य को हम अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं, इस लिये उसे 'माया' या 'स्वप्न' या भ्रम कहना ठीक नहीं। यह सब यथार्थ है और इस पर दृढ़ विश्वास रखकर हमको तदनुसार कार्य करना उचित है। वास्तव में जगत को माया या भ्रम कहना एक ऐसी बात है कि जिसका न तो कोई एक अर्थ समझा जा सकता है और न जो व्यवहार में आ सकता है। 'मायावादी' और 'भ्रमवादी' भी जगत के सब कार्यों को तो उसी तरह पूरी तल्लीनता से करते रहते हैं जैसे कि यथार्थवादी करते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो उनका जीवन निर्वाह और अपने अस्तित्व को स्थिर रखना असम्भव हो जाय। इसलिये चाहे हमारी विचार-धारा पुनर्जन्म, आत्मा, परमात्मा के सम्वन्ध में पूर्णतया स्पष्ट न हो तो भी हमको संसार का कार्य और व्यवहार सत्य समझ कर ही करना आवश्यक है।

पर मीमांसा के परमाणुवादी, दृष्टिकोण और नास्तिकों के भौतिकवाद में वड़ा अन्तर है। जहाँ चार्वाक आदि का नास्तिकवाद मनुष्य को अनात्मवादी और भोगवादी वनाता है वहां मीमांसा वैदिक-आत्मवाद का प्रवल समर्थक है। वह वेदान्त की तरह जीवमात्र को एक तो नहीं मानता वरन् सब जीवों की सत्ता पृथक् वतलाता है, तो भी परलोक तथा मोक्ष में उसकी दृढ़ आस्था है और इसी आधार पर धर्माचरण का प्रतिपादन करता है। धर्म की प्राप्ति के लिये जिन शम, दम, तितिक्षा, ब्रह्मचर्य आदि गुणों की आवश्यकता है उनको भी मीमांसा स्वीकार करता है।

इस सम्बन्ध में वह वेदान्त-सिद्धान्त के साथ सहमत है और कुमारिल भट्टने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है। उन्होंने अपने 'मान मेयो-दय' ग्रन्थ में लिखा है—

कुर्वाणस्यात्ममीमांसा वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्ति सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्द प्रकाशिनी॥

अर्थात्—"वेदान्त द्वारा प्रदर्शित मार्ग से आत्मा की मीमांसा करनी चाहिये। वेदान्त में आत्म-साधन के जिन तीन उपायों—श्रवण, मनन निदिध्यासन का वर्णन किया गया है उनका अवलम्बन करना चाहिये। इसी उपाय से नित्यानन्द प्रदायक मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।"

मीमांसा-दर्शन समाप्त

—०—

भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्मग्रंथ

१. चारों वेद ८ जिल्दों में—

ऋग्वेद ४ खण्ड	...	२४)
अथर्व वेद २ खण्ड	...	१२)
यजुर्वेद १ खण्ड	...	६)
सामवेद १ खण्ड	...	६)

२. १०८ उपनिषदें (३ खण्डों में)

ज्ञान खण्ड	...	७)
ब्रह्मविद्या खण्ड	...	७)
साधना खण्ड	...	७)

३. षट् दर्शन (६ जिल्दों में)

वेदान्त दर्शन	...	[illegible])
सांख्य दर्शन	...	४)
योग दर्शन	...	४)
वैशेषिक दर्शन	...	४)
न्याय दर्शन	...	४)
मीमांसा दर्शन	...	४.

४. आगामी प्रकाशन—

गीता विश्वकोष १८ खण्ड	...	१०८)
४० तन्त्र संग्रह ४ खण्ड	...	२४)
२४ गीताएँ २ खण्ड	...	१२)
२० स्मृतियाँ २ खण्ड	...	१२)

प्रकाशक—

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली

स...

...र : कैला...